सभी देशों के मजदूर आंदोलनों का अनुभव ही अपने सामान्य रूपों में सिद्धांत कहलाता है. क्रांतिकारी व्यवहार से विलग हो जाने पर सिद्धांत उद्देश्यहीन बन जाता है जैसे कि क्रांतिकारी सिद्धांत का आलोक न मिलने पर व्यवहार अंधेरे में ही टटोलता रह जाता है. किन्तु अगर सिद्धांत का निर्माण क्रांतिकारी आंदोलन के साथ अविच्छिन्न संबंध रखते हुए किया गया हो तो वह मजदूर आंदोलन में एक प्रचंड शक्ति बन सकता है...

....क्योंकि सिद्धांत और एकमात्र सिद्धांत ही वह चीज है जो व्यवहार का पथ आलोकित करके हमें यह परखने में समर्थ बनाता है कि विभिन्न वर्ग आज किस तरह और किस ओर अग्रसर हो रहे हैं और भविष्य में उनकी प्रगति किस मार्ग से होगी.

• *स्तालिन*

समकालीन प्रकाशन
आजाद मार्केट, पीरमुहानी
पटना-800003

लेनिनवाद के मूल सिद्धांत

स्तालिन

समकालीन प्रकाशन

लेनिनवाद के मूल सिद्धांत

स्तालिन

समकालीन प्रकाशन
पटना

लेनिनवाद के मूल सिद्धांत

स्तालिन

समकालीन प्रकाशन
आजाद मार्केट, पीरमुहानी
पटना 800 003

संस्करण मार्च 2002
ISBN-81-88292-00-1

मूल्य : 30/- रुपये

अशोक कुमार चन्द्रवंशी द्वारा समकालीन प्रकाशन आजाद मार्केट, पीरमुहानी, पटना-800 003 के लिए प्रकाशित तथा जनकल्याण प्रेस, नया टोला, पटना-800 004 से मुद्रित.

प्रकाशकीय

जोसेफ विसारियोनोविच स्तालिन की सबसे लोकप्रिय व सबसे ज्यादा पढ़ी जानेवाली इस कृति ***लेनिनवाद के मूल सिद्धांत*** के लगभग सभी भारतीय भाषाओं में, बेशक हिन्दी में भी, कई संस्करण अतीत में भी प्रकाशित हो चुके हैं. पर एक तो अनुवाद में असावधानीवश और दूसरे आलस्यवश उनमें भाषा व छपाई की भारी गलतियां रह गई हैं. दूसरे, सोवियत संघ द्वारा स्तालिन की पुस्तकों का प्रकाशन बंद कर दिए जाने के बाद अन्य प्रकाशकों द्वारा निकाले गए इसके अंग्रेजी संस्करणों में भी पाठांतर आ गया था. हमने मौजूदा संस्करण को दोनों दिशाओं से समृद्ध करने की कोशिश की है.

पहले तो हमने विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, चीन द्वारा लगभग तीन दशकों पूर्व प्रकाशित अंग्रेजी संस्करण को, जिसे मूल रूसी संस्करण से मिलाकर परिशुद्ध रूप में छापा गया था, आधार बनाया है. दूसरे, भाषागत त्रुटियों व छपाई की, गलतियों को अधिकतम संभव हद तक दूर कर दिया गया है. इसके अलावा हमने चीन द्वारा प्रकाशित अंग्रेजी संस्करण के अनुरूप लेनिन की उन कृतियों के नामों का भी उल्लेख किया है, जिनसे उद्धरण लिए गए हैं. स्तालिन ने खोत के लिए लेनिन की कृतियों के रूसी संस्करण का सहारा लिया था. लिहाजा पाठकों के सामने केवल लेनिन के रचना संग्रह के रूसी संस्करण की खंड व पृष्ठ संख्या रख देने से पाठक कोई राहत नहीं महसूस करते थे. लेनिन की कृतियों के नामोल्लेख से पाठक थोड़ी राहत महसूस करेंगे. इन सब वजहों से न केवल बाजार से इसकी अनुपलब्धता खत्म हुई है, बल्कि यह अधिक उपादेय भी साबित होगा।

विषयानुक्रम

विषय प्रवेश	7
1. लेनिनवाद की ऐतिहासिक पृष्टभूमि	9
2. पद्धति	15
3. सिद्धांत	22
4. सर्वहारा अधिनायकत्व	37
5. किसानों का सवाल	48
6. राष्ट्रीय प्रश्न	60
7. रणनीति और कार्यनीति	69
8. पार्टी	85
9. कार्यशैली	98

विषय-प्रवेश

लेनिनवाद के मूल सिद्धांत एक बड़ा विषय है. इसकी पूरी विवेचना के लिए एक ग्रंथ लिखने की आवश्यकता होगी. सच पूछिए तो यह विषय एक ग्रंथ में भी नहीं अँट सकता; इसके लिए कई ग्रंथों की आवश्यकता होगी. अतएव इन व्याख्यानों में लेनिनवाद का व्यौरेवार विवरण देने का दावा नहीं किया जा सकता; अधिक से अधिक उनसे लेनिनवाद के (मूल) सिद्धांतों का एक संक्षिप्त परिचय मिल सकता है. फिर भी यह संक्षिप्त परिचय देना मैं आवश्यक समझता हूं. इसके द्वारा मैं लेनिनवाद के सफल अध्ययन के लिए आवश्यक कुछ मूल बातों को आपके सामने रख सकूंगा.

लेनिनवाद के मूल सिद्धांतों की व्याख्या का अर्थ लेनिन की विश्व संबंधी पूरी धारणा की व्याख्या नहीं है क्योंकि लेनिन की विश्व संबंधी धारणा और लेनिनवाद के मूल सिद्धांत दोनों एक ही चीज नहीं हैं. लेनिन मार्क्सवादी थे और उनकी विश्व संबंधी धारणा का आधार निस्संदेह मार्क्सवाद ही है; परंतु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता की लेनिनवाद के मूल सिद्धांतों की व्याख्या का आरंभ मार्क्सवाद के मूल सिद्धांतों की व्याख्या से होना चाहिए. लेनिनवाद की व्याख्या का अर्थ है उन नई और विशिष्ट बातों की व्याख्या जिनसे लेनिन ने मार्क्सवाद के भंडार को समृद्ध बनाया है और जिनपर लेनिन के नाम की स्पष्ट छाप है. अपने व्याख्यानों में मैं **लेनिनवाद के मूल सिद्धांत** का प्रयोग केवल इसी अर्थ में करूंगा.

तो, लेनिनवाद क्या है ?

कुछ लोग कहते हैं कि रूस की विशिष्ट परिस्थिति पर मार्क्सवाद को लागू करने का ही नाम लेनिनवाद है. इस परिभाषा में सत्य का एक अंश अवश्य है लेकिन पूरे सत्य को वह नहीं प्रगट करती. निस्संदेह लेनिन ने मार्क्सवाद को रूसी परिस्थिति पर लागू किया और बड़ी ही निपुणता से लागू किया. किंतु यदि रूस की विशिष्ट परिस्थिति पर मार्क्सवाद को लागू करने का ही नाम लेनिनवाद होता तो उसे केवल एक राष्ट्रीय और रूसी चीज समझा जाता. लेकिन हम जानते हैं कि लेनिनवाद केवल रूसी नहीं बल्कि अंतर्राष्ट्रीय चीज है जो अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति के विकास के एक पूरे युग पर आधारित है. इसीलिए मैं इस परिभाषा को एकांगी मानता हूं.

दूसरे लोग कहते हैं कि मार्क्सवाद के पुराने क्रांतिकारी अंशों को पुनर्जीवित करने का ही नाम लेनिनवाद है. इन लोगों का कहना है कि उन्नीसवीं सदी के पांचवें दशक में मार्क्सवाद क्रांतिकारी था, किंतु पीछे चलकर वह नरम और अक्रांतिकारी बन गया था; लेनिन ने उसके क्रांतिकारी स्वरूप को फिर प्रतिष्ठित किया. मार्क्सवाद की

शिक्षाओं को क्रांतिकारी और सुधार जैसी दो श्रेणियों में बांटने की यह कोशिश बेहूदी और मूर्खतापूर्ण है. फिर भी यह तो हमें स्वीकार करना ही चाहिए कि बिल्कुल अपर्याप्त और असंतोषप्रद होने पर भी इस परिभाषा में सत्य का एक अंश है. लेनिन ने मार्क्सवाद के उस क्रांतिकारी तत्व को सचमुच पुनर्जीवित किया जिसे दूसरे इंटरनेशनल के अवसरवादियों ने भुला दिया था. सच तो यह है कि लेनिन ने मार्क्सवाद को न केवल पुनर्जीवित किया बल्कि उसे एक कदम आगे बढ़ाया, और पूंजीवाद की नई अवस्था तथा सर्वहारा वर्ग के श्रेणी-संघर्ष की नई परिस्थिति को ध्यान में रखकर उन्होंने उसे और भी विकसित किया.

तो फिर लेनिनवाद क्या है ?

लेनिनवाद, साम्राज्यवाद और मजदूर क्रांति के युग का मार्क्सवाद है. बल्कि यह कहना ठीक होगा कि लेनिनवाद सामान्य रूप से सर्वहारा क्रांति का और विशेष रूप से सर्वहारा अधिनायकत्व का सिद्धांत और कार्यनीति है. मार्क्स और एंगेल्स का कार्यकाल क्रांतिकारी युग से (हमारा तात्पर्य सर्वहारा क्रांति के युग से है) पहले था. उस समय तक विकसित साम्राज्यवाद का उदय न हुआ था. सर्वहारा वर्ग उस समय क्रांति की तैयारी करने में लगा हुआ था और सर्वहारा क्रांति उस समय एक प्रत्यक्ष, व्यावहारिक और अनिवार्य वस्तु न बन पाई थी. परंतु मार्क्स और एंगेल्स के शिष्य लेनिन का कार्यकाल उस युग में पड़ा जबकि साम्राज्यवाद पूरी तरह से विकसित हो चुका था और सर्वहारा क्रांति की शक्तियां उठान पर थीं, बल्कि एक देश में क्रांति विजयी भी हो चुकी थी. उस क्रांति ने पूंजीवादी जनवाद को (उसके दकोसले को – संपादक) चूर-चूर कर डाला था, और उसके स्थान पर सर्वहारा जनवाद के युग का, सोवियत जनवाद के युग का आरंभ कर दिया था.

इसी कारण हम कहते हैं कि लेनिनवाद मार्क्सवाद का और भी विकसित रूप है.

लेनिनवाद के विशेषत: उग्र और क्रांतिकारी स्वरूप की ओर ध्यान दिलाना साधारण बात है. ऐसा करना गलत भी नहीं है. लेनिनवाद की इस विशेषता के दो कारण हैं. पहले तो यह कि लेनिनवाद मजदूर क्रांति के गर्भ से उत्पन्न हुआ और इस कारण उस पर इस क्रांति की छाप पड़ना भी अवश्यंभावी था. दूसरे, लेनिनवाद इस इंटरनेशनल (द्वितीय अंतर्राष्ट्रीय संघ) के अवसरवादियों से संघर्ष करके ही बढ़ा और शक्तिशाली बना. अवसरवादियों के विरुद्ध यह संघर्ष पूंजीवादियों से सफलतापूर्वक मोर्चा लेने के लिए नितांत आवश्यक था और आज भी उसी तरह आवश्यक है. हमें भूलना न चाहिए कि मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन के कार्यकाल के बीच का युग दूसरे इंटरनेशनल के अवसरवादियों के एकांत प्रभाव का युग था और इस कारण इन अवसरवादियों के विरुद्ध निर्मम संघर्ष करना लेनिन का एक सर्वप्रधान कार्य बन गया था.

१. लेनिनवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

लेनिनवाद साम्राज्यवाद के युग में बड़ा और साकार हुआ. इस युग में पूंजीवाद के अंतर्विरोध अपनी चरम सीमा तक पहुंच चुके थे, सर्वहारा क्रांति एक तात्कालिक और व्यावहारिक प्रश्न बन गई थी, क्रांति के लिए मजदूर वर्ग की तैयारियों का पुराना समय बीत गया था और पूंजीवाद पर आक्रमण करके उसका अंत करने का नया समय आ गया था.

लेनिन ने साम्राज्यवाद को "मरणासन्न पूंजीवाद" कहा है. क्यों? क्योंकि साम्राज्यवाद पूंजीवाद के आंतरिक विरोधों को उनकी अंतिम हद तक, चरम सीमा तक पहुंचा देता है, जिसके आगे क्रांति का शुभारम्भ होता है. इन अंतरविरोधों में तीन ऐसे हैं जिन्हें सर्वाधिक महत्वपूर्ण समझना चाहिए.

पहला अंतरविरोध है पूंजी और श्रम के बीच. उद्योग प्रधान देशों में इजारेदार ट्रस्टों, सिंडिकेटों, बैंकों और बैंकशाहों के सर्वव्यापी प्रभुत्व की स्थापना ही साम्राज्यवाद का प्रथम लक्षण है. इजारेदारों और बैंकशाहों के इस सर्वव्यापी प्रभुत्व का मुकाबला करने में मजदूर सभाएं, सहयोग समितियां, चुनाव लड़नेवाली संसदीय पार्टियां और वैधानिक लड़ाई आदि मजदूर वर्ग के संघर्ष के पुराने तरीके सर्वथा अपर्याप्त प्रमाणित हुए हैं.

अपने को पूंजीपतियों की दयादृष्टि पर छोड़कर या तो सदा की तरह दासता के नरक में सड़ते रहो और अधिकाधिक हीन और दीन बनते जाओ, या फिर कोई नया अस्त्र लो और अपनी मुक्ति प्राप्त करो. मजदूर वर्ग के विशाल जनसमूह के सामने साम्राज्यवाद के युग में ये ही दो रास्ते रहते हैं. साम्राज्यवाद मजदूर वर्ग को क्रांति करने के लिए बाध्य कर देता है.

दूसरा अंतरविरोध है बैंकशाहों के विभिन्न गुटों और साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच आपस में, कच्चे माल के स्रोतों और दूसरे देशों के भूखंडों पर अधिकार करने के लिए बैंकशाहों और साम्राज्यवादियों के इन गुटों में निरंतर संघर्ष चलता रहता है. कच्चे माल के उद्गम स्थानों में ले जाकर पूंजी को लगाना और इन स्थानों पर एकाधिकार स्थापित करने के लिए उन्मत्त होकर एक दूसरे से संघर्ष करना - यह साम्राज्यवाद का दूसरा प्रधान लक्षण है. इस प्रकार पहले से बंटी हुई दुनिया को फिर से बांटने के लिए इन विभिन्न गुटों में पारस्परिक संघर्ष होने लगते हैं. पुराने गुट अपनी सुविधाओं और अधिकारों से चिपके रहना चाहते हैं और नए गुट और नई शक्तियां "जगत में स्थान" पाने के लिए उनके विरुद्ध तीव्र संघर्ष करती हैं. पूंजीपतियों के बीच होने वाला यह तीव्र संघर्ष इसलिए उल्लेखनीय है कि इसका अंत अनिवार्य रूप से साम्राज्यवादी युद्धों में, अर्थात दूसरे देशों की भूमि हड़पने के लिए किए जानेवाले युद्धों में होता है. साम्राज्यवादी युद्धों की इस

अनिवार्यता की विशेषता यह है कि इसके कारण साम्राज्यवादियों का बल क्षीण हो जाता है, पूंजीवाद की पूरी व्यवस्था की नींव कमजोर हो जाती है, सर्वहारा क्रांति का दिन समीप आ जाता है और इसकी विजय व्यावहारिक रूप से निश्चित बन जाती है.

पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत तीसरा अंतरविरोध है कुछ थोड़ी सी "सभ्य" कही जाने वाली शासक जातियों और उपनिवेशों तथा पराधीन देशों की करोड़ों जनसंख्या वाली दलित जातियों के बीच. बड़े बड़े उपनिवेशों और पराधीन देशों में यूरोप वालों विशाल जनसंख्या का अत्यंत निर्लज्ज शोषण और क्रूर अमानुषिक उत्पीड़न साम्राज्यवाद का तीसरा प्रधान लक्षण है. इस शोषण और अत्याचार का उद्देश्य होता है अधिक से अधिक मुनाफा बटोरना. परंतु इसके लिए साम्राज्यवाद को इन देशों और उपनिवेशों में रेल लाइनें बिछानी पड़ती हैं और कल-कारखाने तथा उद्योग व्यापार के केंद्र खोलने पड़ते हैं. इस "नीति" का अवश्यंभावी परिणाम यह होता है कि उपनिवेशों में आधुनिक मजदूर वर्ग का जन्म होता है, देशी बुद्धिजीवियों की एक नई श्रेणी उत्पन्न हो जाती है, उन देशों की जनता की राष्ट्रीय चेतना जाग उठती है और स्वाधीनता का आंदोलन तेजी से आगे बढ़ने लगता है. समस्त उपनिवेशों और पराधीन देशों में निरपवाद रूप से क्रांतिकारी आंदोलन का जो विकास हुआ है, वह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है. सर्वहारा वर्ग के लिए इस परिस्थिति का भारी महत्व यह है कि उपनिवेश और पराधीन देश अब साम्राज्यवाद की कोतल शक्ति (Reserve force) न रहकर सर्वहारा क्रांति की कोतल शक्ति बन गए हैं और इस प्रकार पूंजीवाद के पक्षों तले की धरती खिसकने लगी है.

साधारण रूप से ये ही साम्राज्यवाद के प्रधान विरोध हैं जिनके कारण पुराना "समृद्ध" पूंजीवाद अब मरणासन्न पूंजीवाद में परिणत हो गया है.

दस साल पहले* जो साम्राज्यवादी युद्ध छिड़ा था, उसका महत्व अन्य बातों के साथ-साथ इस बात में है कि उसने इन सभी अंतरविरोधों को इकट्ठा कर दिया और इस तरह सर्वहारा वर्ग की क्रांतिकारी लड़ाइयों को नई गति देकर उनका मार्ग खोल दिया.

दूसरे शब्दों में, साम्राज्यवाद ने न केवल क्रांति को व्यावहारिक रूप से अवश्यंभावी बना दिया है बल्कि सीधा सीधी पूंजीवाद के गढ़ पर आक्रमण करने के लिए भी अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न कर दी है.

लेनिनवाद का जन्म इसी अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति में हुआ.

लोग कह सकते हैं : खैर, ये बातें तो सही हैं लेकिन इनका रूस से क्या संबंध है? रूस तो साम्राज्यवादी विकास का कोई विशेष उदाहरण नहीं था, और न हो ही सकता था. लेनिन से इसका क्या वास्ता है? लेनिन ने तो प्रधानतया रूस में ही और

* यह भाषण दस साल पहले 1924 में दिया गया था - संपादक

रूस के लिए ही काम किया था? आखिर संसार के और सभी देशों को छोड़कर रूस ही क्यों लेनिनवाद का घर बना, रूस ही क्यों सर्वहारा क्रांति के सिद्धांतों और कार्यनीति का जन्मस्थान बना?

इन प्रश्नों का उत्तर यह है : क्योंकि रूस में साम्राज्यवाद के तमाम विरोध अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुके थे.

क्योंकि संसार के अन्य किसी देश की अपेक्षा रूस में ही क्रांति की परिस्थिति सबसे अधिक परिपक्व हो चुकी थी और इस कारण केवल रूस ही इस स्थिति में था कि साम्राज्यवाद के इन तमाम अंतर्विरोधों का क्रांतिकारी ढंग से अंत कर दे.

जारशाही रूस पर दृष्टि डालिए. वह सब तरह के अत्याचारों का घर था. पूंजीवादी, औपनिवेशिक और फौजशाही के सभी तरह के जुल्म वहां अत्यंत अमानुषिक और क्रूर स्वरूप धारण किए हुए थे. कौन नहीं जानता कि रूस में पूंजी का सर्वव्यापी प्रभाव जार की निरंकुशता के साथ मिलकर एकाकार हो गया था? कौन नहीं जानता कि रूस का राष्ट्रीय अहंकार गैररूसी जातियों पर किए गए जार के अत्याचारों की छत्रछाया में ही फलफूल रहा था? और कौन नहीं जानता कि तुर्की, फारस और चीन के बड़े-बड़े इलाकों को, जिनका रूसी पूंजीपति शोषण करते थे, बाद में जारशाही ने युद्धों के द्वारा हड़प लिया था? लेनिन का कहना ठीक ही था कि जारशाही "फौजी सामंती साम्राज्यवाद" थी. साम्राज्यवाद के निकृष्टतम लक्षण अपने अत्यंत घृणित रूप में जारशाही में केंद्रीभूत हो गए थे.

इसके अतिरिक्त, जारशाही रूस पश्चिमी साम्राज्यवाद की कोतल शक्ति का एक विशाल भंडार था. रूस में विदेशी पूंजी के प्रवेश पर जार ने कोई प्रतिबंध नहीं रखे थे. फलस्वरूप रूस की राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के महत्वपूर्ण अंग - जैसे ईंधन (कोयला, तेल आदि) और धातु (लोहा, तांबा, पीतल आदि) उद्योग - विदेशी पूंजीपतियों के हाथों में थे. इतना ही नहीं, आवश्यकता होने पर जार पश्चिमी साम्राज्यवादियों को लाखों-करोड़ों सैनिक भी दे सकता था. एक करोड़ बीस लाख की उस रूसी फौज को याद कीजिए जिसे साम्राज्यवादी मोर्चों पर अपना खून ब्रिटिश और फ्रांसीसी पूंजीपतियों की भारी थैलियों को सुरक्षित रखने के लिए बहाना पड़ा था.

इससे भी आगे चलिए. जार न केवल पूर्वी यूरोप में पश्चिमी साम्राज्यवादियों का पहरेदार था, बल्कि वह उनका दलाल भी था. पेरिस और लंदन, बर्लिन और ब्रुसेल्स के कर्ज की बड़ी-बड़ी रकमें रूस में लाई जाती थीं और उनका सूद भरने के लिए जार रूस की जनता से करोड़ों रूबल वसूलता था.

अंतिम बात यह है कि तुर्की, फारस और चीन आदि देशों की लूट-पाट में जार पश्चिमी साम्राज्यवादियों का अत्यंत विश्वसनीय और सहायक मित्र था. यह कौन नहीं जानता कि प्रथम साम्राज्यवादी युद्ध में जार मित्र-गुट के साम्राज्यवादियों के साथ मिलकर लड़ रहा था, और रूस का उस युद्ध में एक विशेष महत्वपूर्ण स्थान था.

इन कारणों से जारशाही के स्वार्थ पश्चिमी साम्राज्यवादियों के स्वार्थों से बंध गए थे और अंत में उसके साथ मिलकर पूरी तरह एकाकार हो गए थे.

तब क्या पश्चिमी साम्राज्यवादी पूर्व के अपने इस शक्तिशाली सहायक को यों ही छोड़ सकते थे? जारशाही की रक्षा करने और उसे जीवित रखने के ही उद्देश्य से उन्होंने रूसी क्रांतिकारियों के विरुद्ध जीवन मरण का संघर्ष किया था.

इससे एक बात स्पष्ट है. अगर कोई जारशाही पर प्रहार करना चाहता था तो उसे निश्चय ही साम्राज्यवाद की संपूर्ण व्यवस्था पर प्रहार करना था; अगर कोई जारशाही से लोहा लेना चाहता था तो उसे साम्राज्यवाद से भी लोहा लेना था, अगर कोई जारशाही को हराना ही नहीं बल्कि उसे समूल नष्ट करना चाहता था तो उसे साम्राज्यवाद को भी नष्ट करना था. सारांश यह कि जार विरोधी क्रांति को साम्राज्यवाद विरोधी क्रांति का ही रास्ता पकड़ना था और अंत में उसे सर्वहारा क्रांति का रूप धारण करना था.

इस बीच रूस में एक महान जनक्रांति का उभार हो रहा था. उसका नेतृत्व संसार के सबसे क्रांतिकारी मजदूर वर्ग के हाथों में था. रूस के क्रांतिकारी किसान वर्ग जैसा महत्वपूर्ण साथी उसका सहायक था. कहने की आवश्यकता नहीं कि इस तरह की क्रांति आधे रास्ते में ही नहीं रुक सकती थी. सफलता प्राप्त करने पर उसका और भी आगे बढ़ना और साम्राज्यवाद के विरुद्ध बगावत का झंडा उठाना अवश्यंभावी था.

अतएव रूस में साम्राज्यवाद के अंतर्विरोधों का अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाना भी अनिवार्य था. इसका कारण केवल यही नहीं था कि रूस में इन अंतर्विरोधों का रूप अत्यंत घृणित और असह्य था, इसलिए वे बड़ी स्पष्टता से प्रगट हो रहे थे और उसका कारण सिर्फ यह नहीं था कि रूस ही पश्चिम के साम्राज्यवाद का सबसे बड़ा सहारा था और पश्चिम की महाजनी पूंजी और पूर्व के उपनिवेशों के बीच पुल का काम करता था. बल्कि उसका प्रधान कारण यह था कि रूस में ही वह क्रांतिकारी शक्ति पैदा हो गई थी जो साम्राज्यवाद के इन सभी अंतर्विरोधों को क्रांतिकारी ढंग से हल कर सकती थी.

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि रूसी क्रांति का आगे चलकर सर्वहारा क्रांति में बदल जाना अवश्यंभावी था और आरम्भ से ही उसके स्वरूप का अंतर्राष्ट्रीय होना अनिवार्य था. इसलिए उसके आवेगों से विश्व साम्राज्यवाद की नींव तक का हिल जाना भी निश्चित था.

इन परिस्थितियों में क्या रूसी कम्युनिस्ट अपने आंदोलन को रूसी क्रांति के तंग राष्ट्रीय दायरे तक ही सीमित रख सकते थे? स्पष्ट है कि यह संभव न था. सारी परिस्थिति इसके विपरीत आचरण की मांग कर रही थी. रूस का गंभीर क्रांतिकारी संकट और बाहर की युद्ध की स्थिति उन्हें प्रेरित कर रही थी कि संकरी राष्ट्रीय सीमाओं को लांघकर वे अपने संघर्ष को अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी फैलाएं, साम्राज्यवाद

के ऊपर से खोखले शब्दों के नगाड़ों को खोलकर जनता के सामने रख दें और उन्हें यह बता दें कि पूंजीवाद का पतन निश्चित और अनिवार्य है. परिस्थिति का तकाजा था कि समाजवादी बाना पहनकर घूमनेवाले अवसरवादियों के उन्मत्त देशाहंकार और उनकी भीरु शांतिवादिता का वे पर्दाफाश कर दें, अपने देश रूस में पूंजीवाद को जड़ से उखाड़ फेंकें और मजदूर वर्ग के लिए अस्त्र के रूप में सर्वहारा क्रांति के सिद्धांत और उसकी कार्यनीति को निर्धारित करें जिससे कि सभी देशों के मजदूरों के लिए अपने-अपने देशों में पूंजीवाद को उखाड़ फेंकने का काम सरल हो जाए. रूसी कम्युनिस्ट कोई दूसरा मार्ग अपना भी नहीं सकते थे. इसी पथ का अनुसरण करने से अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति में ऐसे परिवर्तन लाने की संभावना थी जिनसे रूस में पूंजीवादी व्यवस्था की पुनर्स्थापना रोकी जा सकती थी.

यही कारण है कि रूस लेनिनवाद की जन्मभूमि बना और रूसी कम्युनिस्टों के नेता लेनिन उसके प्रवर्तक बने.

पिछली शताब्दी के चौथे दशक में जो बात मार्क्स तथा एंगेल्स के समय जर्मनी के संबंध में लागू होती थी लगभग वही बात लेनिन के इस युग में रूस के संबंध में "सच" थी. बीसवीं सदी के आरम्भ में रूस जिस तरह पूंजीवादी क्रांति के द्वार पर खड़ा था, उसी तरह उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में जर्मनी पूंजीवादी क्रांति के समीप था. उस समय मार्क्स ने **कम्युनिस्ट घोषणापत्र** में लिखा था :

"कम्युनिस्ट जर्मनी की तरफ खास ध्यान देते हैं क्योंकि वहां पर पूंजीवादी क्रांति बहुत ही निकट है, क्योंकि जर्मनी पूंजीवादी क्रांति के द्वार पर खड़ा है. जर्मनी की यह क्रांति यूरोपियन सभ्यता की अधिक उन्नत परिस्थितियों में होगी. इस क्रांति को इंग्लैंड के सत्रहवीं शताब्दी के मजदूरों की अपेक्षा जर्मनी के अधिक सजग मजदूर पूरा करेंगे. और जर्मनी की यह पूंजीवादी क्रांति उसके बाद आने वाली मजदूर क्रांति की भूमिका का काम करेगी." (**कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र** - प्रथम हिंदी संस्करण - 1943, पृ. 67.)

दूसरे शब्दों में जर्मनी उस समय क्रांतिकारी आंदोलन का केंद्र बन रहा था.

ऊपर के उद्धरण में मार्क्स ने जर्मनी की जिस विशिष्ट परिस्थिति का उल्लेख किया है संभवतः उसी के कारण जर्मनी वैज्ञानिक समाजवाद की जन्मभूमि बना और जर्मन सर्वहारा के नेता मार्क्स और एंगेल्स उसके प्रवर्तक बने. इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं है.

बीसवीं सदी के आरम्भ में रूस के विषय में भी यही बात और अधिक सच्चाई के साथ कही जा सकती है. रूस उस समय पूंजीवादी क्रांति के समीप था. उसे यह क्रांति ऐसे समय में पूरी करनी थी जबकि पूरे यूरोप की परिस्थिति और भी परिपक्व हो चुकी थी और उस क्रांति को ऐसे सर्वहारा वर्ग द्वारा संपन्न होना था जो इंग्लैंड और फ्रांस की तो बात ही क्या जर्मनी के सर्वहारा वर्ग से भी अधिक जाग्रत और उन्नत हो चुका था. अतएव सभी लक्षणों से स्पष्ट था कि रूस की यह क्रांति सर्वहारा क्रांति

की भूमिका और उसकी मूल प्रेरक शक्ति बनेगी.

यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि 1902 में ही जब कि रूसी क्रांति अदृश्य के ही गर्भ में बढ़ रही थी, लेनिन ने अपनी पुस्तक **क्या करें** में यह भविष्यवाणी की थी .

"हमारी (अर्थात रूसी मार्क्सवादियों की — स्तालिन) साधना के लिए इतिहास ने ऐसा तात्कालिक ध्येय रखा है जो कि किसी भी देश के सर्वहारा वर्ग के *तात्कालिक उद्देश्यों में सबसे अधिक क्रांतिकारी होगा*. इस उद्देश्य की पूर्ति, यूरोप के ही नहीं बल्कि (हम अब कह सकते हैं कि) एशिया के भी प्रतिक्रियावाद के आधारस्तंभ का ध्वंस करके रूसी सर्वहारा वर्ग को अन्य देशों के क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग का अग्रदल बना देगी." (लेनिन, **ग्रंथावली**, खंड 2, पृ. 50.)

अर्थात यह निश्चित था कि रूस क्रांतिकारी आंदोलन का केंद्र बनने जा रहा था.

हम जानते हैं कि रूसी क्रांति ने लेनिन की इस भविष्यवाणी को पूरी तरह सही प्रमाणित कर दिया है.

यह सब जान लेने पर भी इसमें क्या कोई आश्चर्य होना चाहिए कि सर्वहारा क्रांति के सिद्धांतों और कार्यनीति का जनक भी वही देश बना जिसने यह क्रांति पूरी कर ली है और जहां ऐसा सर्वहारा वर्ग मौजूद है?

और तब इसपर ही क्यों आश्चर्य होना चाहिए कि इस सर्वहारा के नेता लेनिन उक्त सिद्धांतों और कार्यनीति के निर्माता और अंतर्राष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग के नेता बने.

२. पद्धति

मैं पहले ही कह चुका हूं कि मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन के कार्यकाल के बीच दूसरे इंटरनेशनल के अवसरवादी नेताओं के प्रभाव का एक पूरा युग था. इस कथन को बिल्कुल निर्विवाद बनाने के लिए इतना और जोड़ देना उचित होगा कि मेरा तात्पर्य इन लोगों के ऊपरी नहीं, वास्तविक प्रभाव से है. ऊपर-ऊपर अर्थात जहां तक उसके विधान और पदाधिकारियों का संबंध था वहां तक तो दूसरे इंटरनेशनल का नेतृत्व "सच्चे" मार्क्सवादियों — यहां तक की काउत्स्की जैसे "रूढ़िवादी" मार्क्सवादियों के हाथों में था. किंतु व्यवहार में, अर्थात नीति और वास्तविक कार्य में दूसरा इंटरनेशनल अवसरवादी पथ का ही अनुसरण करता था. अपनी निम्नपूंजीवादी मनोवृत्ति और गिरगिट की तरह रंग बदलने की योग्यता के कारण जहां अवसरवादी लोग पूंजीपतियों की हां में हां मिलाया करते थे, वहां "पार्टी की आंतरिक शांति" की दुहाई देकर और इन अवसरवादियों के साथ "एकता की रक्षा" करने के नाम पर, इस इंटरनेशनल के "रूढ़िवादी" मार्क्सवादी नेता अपनी नीति इन अवसरवादियों के अनुकूल कर लेते थे. इस प्रकार पूंजीपतियों की नीति और इन "रूढ़िवादी" मार्क्सवादियों की नीति में बराबर संबंध बना रहता था और दूसरे इंटरनेशनल की नीति पर अवसरवादिता की छाप रहती थी.

युद्ध के पहले का वह युग पूंजीवाद के अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण विकास का युग था. उस समय तक साम्राज्यवाद के विनाशकारी अंतर्विरोध पूरी तरह प्रकट नहीं हुए थे. मजदूरों की आर्थिक हड़तालें और मजदूर सभाएं, "साधारण गति से" बढ़ रही थीं, चुनावी संघर्षों में वैधानिक पार्टियों द्वारा "बड़ी-बड़ी" सफलताएं प्राप्त होती थीं, संघर्ष के कानूनी तरीकों की प्रशंसा के गीत गाए जाते थे और समझा जाता था कि कानूनी तरीकों से संघर्ष करके ही पूंजीवाद को "मिटा" दिया जाएगा. संक्षेप में, उन दिनों दूसरे इंटरनेशनल के नीचे काम करने वाली पार्टियां आराम से पैर फैलाकर सो रही थीं. क्रांति, सर्वहारा अधिनायकत्व और जनता की क्रांतिकारी शिक्षा आदि के प्रश्नों पर गंभीरतापूर्वक विचार करने की ओर उनका ध्यान भी न था.

एक सुसंगत क्रांतिकारी सिद्धांत का स्थान कुछ परस्पर विरोधी ब्रह्म वाक्यों और अधकचरी मान्यताओं ने ले रखा था जो जनता के वास्तविक क्रांतिकारी संघर्षों से दूर पड़कर जीर्ण मतवादों की तरह रूढ़ और निर्जीव बन गई थीं. दिखाने के लिए मार्क्स के सिद्धांतों की दुहाई दी जाती थी; परंतु इसका प्रयोजन उन सिद्धांतों की जीवित क्रांतिकारी आत्मा को कुचल देना ही रहता था.

जागृत क्रांतिकारी नीति का स्थान ले लिया था भद्दे अधकचरेपन ने, राजनीतिक

मातहतों ने और वैधानिक कानूनीपन और अवसरवादी भवन के जोड़-तोड़ और तिकड़मों से. दिखाने के लिए 'क्रांतिकारी' प्रस्ताव और नारे अपनाए जाते थे किंतु उनके बाद उनकी कोई खबर नहीं ली जाती थी.

पार्टी के सदस्यों को सही क्रांतिकारी कार्यनीति सिखलाने और अपनी ही भूलों से शिक्षा ग्रहण करने में उनकी सहायता करने के बजाए, विवादास्पद प्रश्नों पर जानबूझ कर चुप्पी साध ली जाती थी और उनपर पर्दा डालकर उनसे किसी प्रकार जान छुड़ा लेने की कोशिश की जाती थी. दिखाने के लिए इन विवादास्पद और असुविधाजनक प्रश्नों पर भी बहस करने का स्वांग किया जाता था, और फिर कोई गोलमटोल प्रस्ताव पास करके उनको दबा दिया जाता था.

यही थी दूसरे इंटरनेशनल की रूपरेखा, उसकी कार्यनीति, और यही थे युद्ध के उसके अस्त्र.

इस बीच साम्राज्यवादी युद्धों और सर्वहारा वर्ग के क्रांतिकारी संघर्षों का एक नया युग आ रहा था. महाजनी पूंजी के सर्वव्यापी प्रभुत्व के सामने संघर्ष के पुराने तरीके स्पष्टत: अपर्याप्त और निर्बल साबित हो रहे थे.

दूसरे इंटरनेशनल के सारे कार्यों और उसके काम के सारे तरीकों को पूरी तरह बदल देना बिल्कुल आवश्यक हो गया था. उसके तमाम अधकचरेपन, कूपमंडूकता, राजनीतिक तिकड़मबाजी, पाखंड, गद्दारी और समाजवाद के नाम पर प्रचारित देशाहंकार और शांतिवाद का अंत करना जरूरी था. अब दूसरे इंटरनेशनल के संपूर्ण तौर-तरीकों की परीक्षा करना, उसके पुराने और मोरचा खाए हुए अस्त्रों को निकाल फेंकना और उनके स्थान पर नए मजबूत अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण करना अत्यंत आवश्यक हो गया था. इस प्राथमिक काम को पूरा किए बिना पूंजीवाद के खिलाफ युद्ध छेड़ना बेकार था, क्योंकि यों ही युद्ध छेड़ देने से इस बात का खतरा था कि आनेवाले क्रांतिकारी युद्ध के समय मजदूर अपर्याप्त रूप से तैयार या बिल्कुल अप्रस्तुत मिलें.

दूसरे इंटरनेशनल के इस तमाम कूड़ा करकट को साफ करने और उसके काम के ढंग को परिवर्तित करके फिर से संगठित करने का गुरुतर भार लेनिनवाद पर पड़ा.

इन्हीं परिस्थितियों के गर्भ से लेनिनवाद की पद्धति का जन्म हुआ. इन्हीं के बीच यह पद्धति विकसित हुई.

इस पद्धति को स्थापित करने के लिए किन बातों की आवश्यकता थी?

पहली आवश्यकता यह थी कि दूसरे इंटरनेशनल के सैद्धांतिक वाद विवादों को जनता के क्रांतिकारी आंदोलन की कसौटी पर, जीवित प्रयोग की कसौटी पर, परखा जाए. अर्थात सिद्धांत और प्रयोग के टूटे हुए सामंजस्य को फिर स्थापित किया जाए तथा सिद्धांत और प्रयोग के बीच की खाई को पाटकर बराबर कर दिया जाए, क्योंकि सिद्धांत के शस्त्र से सुसज्जित सच्ची क्रांतिकारी पार्टी का केवल इसी तरह से निर्माण किया जा सकता था.

दूसरी आवश्यकता यह थी कि दूसरे इंटरनेशनल की पार्टियों की नीति का मूल्य उनके नारों और प्रस्तावों के अनुसार नहीं, जिनपर विश्वास नहीं किया जा सकता था, बल्कि उनके आचरण और कार्यों के अनुसार *आंका जाए*. सिर्फ इसी रास्ते से मजदूर वर्ग का विश्वास प्राप्त किया जा सकता था और उसके विश्वास के योग्य बना जा सकता था.

तीसरी आवश्यकता इस बात की थी कि क्रांतिकारी युद्ध के लिए जनता को तैयार करने के उद्देश्य से पार्टी के तमाम कार्यों को नए और क्रांतिकारी ढंग से *पुनर्गठित किया जाए*. जनता को सर्वहारा क्रांति के लिए तैयार करने का यही एकमात्र मार्ग था.

चौथी आवश्यकता इस चीज की थी कि मजदूर पार्टियों के अन्दर *आत्मालोचना* का प्रचार किया जाए, जिससे कि वे अपनी भूलों से सीख सकें और इस प्रकार अपने को शिक्षित और कार्यकुशल बना सकें. पार्टी के सच्चे कार्यकर्ताओं और सच्चे नेताओं को शिक्षित करने का यही एक मार्ग था.

यही लेनिनवाद की पद्धति का आधार है और यही उसका सारांश है.

इस पद्धति को प्रयोग में कैसे लाया गया?

दूसरे इंटरनेशनल के अवसरवादियों के झोले में कुछ सैद्धांतिक मतवाद हैं. वे बराबर उन्हीं के आधार पर अपनी बहस शुरू करते हैं. इनमें से कुछ पर हम नजर डालें.

पहला मतवाद सर्वहारा वर्ग द्वारा राजसत्ता पर अधिकार करने की उपयुक्त परिस्थितियों के संबंध में है. अवसरवादी बहुत जोर देकर कहते हैं कि सर्वहारा तबतक राजसत्ता पर अधिकार नहीं कर सकता – और उसे करना भी नहीं चाहिए – जबतक कि अपने देश में उसका बहुमत नहीं हो जाता. इस ऊटपटांग धारणा के पक्ष में सैद्धांतिक या व्यावहारिक किसी भी तरह के प्रमाण नहीं दिए जाते, क्योंकि वास्तव में ऐसे कोई प्रमाण हैं ही नहीं. लेनिन कहते हैं : अच्छा, थोड़ी देर के लिए अवसरवादियों की इस बात को मान लो. फिर दूसरे इंटरनेशनल के उन महानुभावों का जवाब देते हुए वे कहते हैं : मान लीजिए कि ऐसी ऐतिहासिक परिस्थिति उत्पन्न हो गई है (जैसे युद्ध, कृषि-संकट, आदि) जिसमें सर्वहारा वर्ग, तमाम जनसंख्या के हिसाब से अल्पमत में होते हुए भी, इस अवस्था में है कि वह श्रमजीवियों के विशाल जन समूह को अपने पक्ष में कर सकता है, तो इस हालत में उसे राजसत्ता को अपने हाथों में क्यों नहीं ले लेना चाहिए? अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय परिस्थितियों के अनुकूल होने से यदि सर्वहारा वर्ग को पूंजीवादी मोर्चे को बेधकर निपटारे का दिन समीप लाने का अवसर मिलता है तो वह उसका क्यों न लाभ उठाए? क्या मार्क्स ने पिछली सदी के छठे दशक में नहीं कहा था कि यदि जर्मनी की सर्वहारा क्रांति को "किसान-युद्धों की तरह के" किसान संघर्षों द्वारा सहायता पहुंचाई जा सकती तो वह "अत्यंत गौरव के साथ" सफल होती? और क्या यह आम तौर से जानी हुई बात नहीं है कि जर्मनी

में उन दिनों 1917 के रूस की अपेक्षा मजदूरों की संख्या कम थी? रूस की मजदूर क्रांति के व्यावहारिक अनुभव में भी क्या यह बात सिद्ध नहीं हो गई है कि दूसरे इंटरनेशनल के सूरमाओं का यह प्यारा मतवाद मजदूरों के लिए कोई महत्व नहीं रखता? क्या यह स्पष्ट नहीं है कि जनता के क्रांतिकारी संघर्ष के अनुभवों ने इस जीर्ण शीर्ण मतवाद की धज्जी धज्जी उड़ा दी है?

दूसरा मतवाद है : जबतक सर्वहारा वर्ग के पास शासन का भार संभालने और उसका संगठन करने की योग्यता रखने वाले दक्ष शासक और शिक्षक न हों तबतक वह राजसत्ता को अपने हाथों में नहीं रख सकता. इसलिए उसे इस तरह के योग्य कार्यकर्ताओं को पूंजीवादी राज्य व्यवस्था के अंतर्गत शिक्षित और तैयार कर लेने के बाद ही राजसत्ता पर अधिकार करने की बात सोचनी चाहिए. इसके उत्तर में लेनिन कहते हैं : मान लो बात ऐसी ही है. किंतु ऐसा क्यों न करो कि पहले राजसत्ता पर अधिकार कर लो और इस प्रकार सर्वहारा वर्ग के समुचित विकास के लिए अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करके श्रमजीवी जनसमूह के सांस्कृतिक धरातल को ऊंचा करने की दिशा में लंबे-लंबे डग बढ़ाओ और मजदूरों के अन्दर से सैकड़ों शिक्षक, नेता और शासक तैयार कर लो. मजदूरों की पांत में चुने हुए कार्यकर्ता सर्वहारा राज्य की छत्रछाया में पूंजीवादी राज्य की अपेक्षा सौगुनी तेजी से बढ़ते और नेतृत्व की योग्यता प्राप्त करते हैं. क्या इन बातों को रूस के ही अनुभव ने स्पष्ट नहीं कर दिया है? क्या यह भी स्पष्ट नहीं है कि जनता के क्रांतिकारी संघर्ष के अनुभवों ने अवसरवादियों के इस सैद्धांतिक मतवाद की भी धज्जी-धज्जी उड़ा दी है.

तीसरा मतवाद है : राजनीतिक आम हड़ताल को मजदूर वर्ग अपना अस्त्र नहीं बना सकता. एक तो यह सिद्धांततः गलत है (एंगेल्स की **आलोचना** देखिए); दूसरे इस अस्त्र का प्रयोग बहुत खतरनाक है (देश के आर्थिक जीवन की स्वाभाविक गति में यह रुकावट डाल सकता है और मजदूर सभाओं के सारे कोष को चाट जा सकता है); और तीसरे, वैधानिक संघर्ष का स्थान वह कभी नहीं ले सकता. वैध संघर्ष ही सर्वहारा वर्ग के वर्ग संघर्ष का प्रधान अस्त्र है. लेनिनवादी इसके उत्तर में कहते हैं: एंगेल्स ने प्रत्येक आम हड़ताल की आलोचना नहीं की थी. उन्होंने एक विशेष तरह की आम हड़ताल की आलोचना की थी. उन्होंने आलोचना की थी उस आर्थिक आम हड़ताल की जिसे अराजकतावादी सर्वहारा वर्ग के राजनीतिक संघर्ष का स्थान देने की कोशिश कर रहे थे. इसका राजनीतिक आम हड़ताल से भला क्या संबंध है? दूसरे, यह कब और किसने प्रमाणित किया है कि वैधानिक संघर्ष ही सर्वहारा के वर्ग संघर्ष का प्रधान अस्त्र है. क्रांतिकारी आंदोलन का इतिहास तो यह प्रमाणित करता है कि वैधानिक संघर्ष मजदूर वर्ग के अवैध संघर्षों के संचालन के लिए एक पाठशाला है, उनका एक मंच है और उनके संगठन में सहायक बनने में ही उसका महत्व है. पूंजीवादी शासन-व्यवस्था में मजदूर वर्ग की मौलिक समस्याओं का हल तो बल

प्रयोग से ही हो सकता है. इसके लिए मजदूर जनता को संघर्ष छेड़ करनी पड़ती है, आम हड़तालें और विद्रोह करना होता है. तीसरी बात यह है कि यह किसने कहा है कि राजनीतिक आम हड़ताल के अस्त्र को वैध संघर्ष के बदले में अपनाया जाए? राजनीतिक आम हड़ताल के समर्थकों ने संघर्ष के वैधानिक रूपों के स्थान पर अवैध तरीके लागू करने की कब और कहां कोशिश की है? चौथी बात यह है कि राजनीतिक आम हड़ताल सर्वहारा क्रांति के लिए सबसे बड़ा शिक्षालय है; पूंजीवाद के दुर्ग को ताड़ने के पहले विशाल मजदूर जनता को संगठित करने और उसे समेटने का यह एक आवश्यक रूप है. रूसी क्रांति ने इस बात को पूरी तरह प्रमाणित कर दिया है. तो फिर आर्थिक जीवन की स्वाभाविक गति में बाधा पड़ने और मजदूर संघों के खजाने के खाली हो जाने के विषय में यह पाखंडपूर्ण प्रलाप क्यों? क्या यह स्पष्ट नहीं है कि क्रांतिकारी संघर्षों के अनुभव ने ही अवसरवादियों के इस मतवाद की भी धज्जी-धज्जी उड़ा दी है?

इत्यादि इत्यादि.

इसीलिए लेनिन ने कहा था कि "क्रांतिकारी सिद्धांत कोई मतवाद नहीं है," और यह कि "क्रांतिकारी सिद्धांत वास्तविक क्रांतिकारी जनांदोलन के संपर्क में आकर ही परिपक्व होता है" (**वामपंथी कम्युनिज्म : एक बचकाना मर्ज**), क्योंकि सिद्धांत को व्यवहार का मार्गदर्शन करना चाहिए. "सिद्धांत को व्यावहारिक क्षेत्र में उठने वाले प्रश्नों का उत्तर देना चाहिए" (**"जनता के मित्र" कौन हैं?**), व्यवहार की कसौटी पर उसकी परीक्षा होनी चाहिए.

जहां तक दूसरे इंटरनेशनल से संबद्ध पार्टियों के राजनीतिक प्रस्तावों और नारों का संबंध है, उनका मूल आंकने के लिए इंटरनेशनल के एक ही नारे - "युद्ध के विरुद्ध युद्ध" के इतिहास पर दृष्टि डालना पर्याप्त होगा. उसीसे पता चल जाएगा कि उनका राजनीतिक आचार कितना झूठा और पाखंडपूर्ण है. अपने क्रांति विरोधी कामों पर परदा डालने के लिए ये पार्टियां लंबे-चौड़े क्रांतिकारी प्रस्तावों तथा रंगबिरंगे नारों का सहारा लेती हैं. बाल कांग्रेस में दूसरे इंटरनेशनल ने जो बढ़िया तमाशा दिखलाया था, वह हम सबको याद है. वहां उसने "युद्ध के विरुद्ध युद्ध" छेड़ने का भयानक नारा बुलंद किया था और साम्राज्यवादियों को धमकी दी थी कि यदि युद्ध छिड़ा तो वे तमाम देशों में व्यापक विद्रोह की भयंकर आग लगा देंगे. साथ ही यह भी सबको याद है कि कुछ ही दिनों बाद जब युद्ध छिड़ने की संभावना स्पष्ट दीखने लगी, तो बाल कांग्रेस के इस प्रस्ताव को रद्दी की टोकरी में डाल दिया गया और मजदूरों के सामने एक नया नारा पेश किया गया : अपनी पूंजीवादी मातृभूमि के गौरव के लिए एक दूसरे का गला काटो. स्पष्ट है कि क्रांतिकारी नारे और प्रस्ताव कौड़ी काम के नहीं, अगर उनके अनुसार व्यवहार नहीं होता. उदाहरण के लिए साम्राज्यवादी युद्ध के गृहयुद्ध में बदलने की लेनिनवादी नीति की तुलना दूसरे इंटरनेशनल की युद्ध संबंधी

धोखे भरी नीति से कीजिए. इससे आप अवसरवादी राजनीतिज्ञों की बेहयाई और बदनीयती का अंदाजा लगा सकेंगे, साथ ही लेनिनवादी नीति की श्रेष्ठता को भी समझ लेंगे.

यहां पर लेनिन की पुस्तक **मजदूर क्रांति और गद्दार काउत्स्की** से एक अनुच्छेद उद्धृत करना चाहता हूं. राजनीतिक पार्टियों के बारे में राय कायम करते समय उनके वास्तविक कार्यों को नहीं बल्कि उनके कागजी प्रस्तावों और घोषणाओं को ही सामने रखनेवाली काउत्स्की की अवसरवादी नीति की तीव्र आलोचना करते हुए लेनिन ने लिखा है :

"काउत्स्की की यह उक्ति कि *नारा लगाने से* ही स्थिति बदल जाती है, निम्नपूंजीवादी वर्ग के एक अधकचरे दिमाग की उपज है. पूंजीवादी जनवाद का सारा इतिहास काउत्स्की के इस मत को असत्य प्रमाणित कर रहा है. जनता को धोखा देने के लिए पूंजीवादी जनवादी लोग बराबर तरह-तरह के 'नारे'" लगाते आए हैं और आज भी लगा रहे हैं. लेकिन सवाल है उनकी ईमानदारी को *जांच करने का*, उनके शब्दों का मूल्य उनके *कार्यों से* लगाने का. हमें इन लोगों को कपटी और आदर्शवादी *उक्तियों से* संतुष्ट न होकर उनके पीछे छिपी हुई *वर्गीय यथार्थता* की खोज करनी चाहिए." (लेनिन, **ग्रंथावली**, 7 पृ. 172.)

दूसरे इंटरनेशनल की पार्टियों को आत्मालोचना से भय मालूम होता है. उन्हें अपनी भूलों पर परदा डाल देने की आदत है. प्रधान और विवादास्पद प्रश्नों से वे बराबर कतरा कर निकल जाती हैं. सब कुछ ठीक है का झूठा दावा करके वे अपनी कमजोरियों को ढंके रखना चाहती हैं जिनसे विचारशक्ति जड़ हो जाती है और पार्टी की क्रांतिकारी शिक्षा में बाधा पड़ती है, क्योंकि इससे अपनी भूलों से सबक लेने का मार्ग बंद कर दिया जाता है. मैं इनके संबंध में कुछ कहना नहीं चाहता. स्वयं लेनिन ने ही इनकी कड़ी आलोचना की है और इनके दोष बतलाए हैं. अपनी पुस्तक **वामपंथी कम्युनिज्म : एक बचकाना मर्ज** में लेनिन ने सर्वहारा पार्टियों के भीतर आत्मालोचना के संबंध में लिखा है :

अपनी भूलों के प्रति किसी राजनीतिक पार्टी का रुख क्या है, यह उसकी तत्परता और ईमानदारी का पता लगाने का सर्वोत्तम और निश्चित तरीका है. इससे यह जाना जा सकता है कि अपने *वर्ग* और श्रमजीवी *जनता* के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन वह **व्यवहार में** किस हद तक कर रही है. किसी भूल को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार कर लेना, उसके कारण ढूंढ़ना, उसे उत्पन्न करनेवाली अवस्थाओं का विश्लेषण करना और उसके सुधार के उपायों पर गंभीरतापूर्वक विचार और विवाद करना - किसी तत्पर और ईमानदार पार्टी के ये ही लक्षण हैं. इसी तरह से उसे अपना कर्त्तव्य पूरा करना चाहिए, इसी तरह से उसे अपने *वर्ग* की और उसके बाद सारी *जनता* की शिक्षा-दीक्षा करनी चाहिए." (लेनिन, **ग्रंथावली**, खंड 10, पृ. 95.)

कुछ लोग कहते हैं कि अपनी निजी भूलों को उघाड़ना और अपनी आलोचना आम करना पार्टी के लिए खतरे की चीज है, क्योंकि दुश्मन उसका इस्तेमाल सर्वहारा पार्टी के खिलाफ कर सकता है. लेनिन इन आपत्तियों को तुच्छ और बिल्कुल गलत मानते हैं. सन् 1904 में ही जब हमारी पार्टी अभी छोटी और कमजोर थी, लेनिन ने अपनी पुस्तक **एक कदम आगे दो कदम पीछे** में इस बात पर अपनी राय प्रकट की थी :

"हमारे विवादों को सुन सुन कर वे (अर्थात मार्क्सवादियों के विरोधी स्तालिन) मुंह बनाते हैं और आंखें चमकाते हैं, और सच पूछिए तो ये मेरी पुस्तक से अलग-अलग ऐसे अनुच्छेद चुनने की कोशिश करेंगे जो हमारी पार्टी की कमियों व कमजोरियों को दर्शाते हैं और उनका प्रयोग अपनी स्वार्थ-साधना के लिए करेंगे. परंतु रूसी मार्क्सवादी संघर्ष की भट्ठी में तपकर अबतक काफी मजबूत बन चुके हैं. इन छुद्र दुरभिसंधियों से वे विचलित नहीं हो सकते. इन लोगों की परवाह किए बिना स्वयं अपनी आलोचना करने और अपनी कमियों को अच्छी तरह खोलकर दिखला देने के पथ पर वे निरंतर बढ़ते जाएंगे. जैसे-जैसे मजदूर आंदोलन बढ़ेगा, वैसे-वैसे हमारी कमियां और खामियां भी निश्चय ही दूर हो जाएंगी." (लेनिन, **ग्रंथावली**, खंड 2, पृ. 104.)

आम तौर पर लेनिनवाद की पद्धति के ये ही प्रधान लक्षण हैं.

लेनिन की पद्धति जिन बातों को लेकर बनी है, वे मुख्यतया मार्क्स की शिक्षा में पहले ही विद्यमान थीं. स्वयं मार्क्स ने ही उन्हें 'सार रूप में आलोचनात्मक और क्रांतिकारी' कहा था. ठीक यही आलोचनात्मक और क्रांतिकारी भावना लेनिन की पद्धति में आरम्भ से अंत तक व्याप्त है. लेकिन यह मानना गलत होगा कि लेनिन की पद्धति मार्क्स की पद्धति की पुनर्स्थापना मात्र है. वस्तुतः लेनिन की पद्धति न केवल मार्क्स की आलोचनात्मक और क्रांतिकारी पद्धति की, उनकी द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी पद्धति की, फिर से स्थापना करती है, बल्कि वह उसे सगुण और साकार बनाकर उसका और भी विकास करती है.

३. सिद्धांत

इस विषय में तीन प्रश्नों पर विचार करना चाहता हूं :

(i) सर्वहारा आंदोलन के लिए सिद्धांत का महत्व;

(ii) स्वत:स्फूर्तता के ''सिद्धांत'' की आलोचना; और

(iii) सर्वहारा क्रांति का सिद्धांत.

सर्वहारा आंदोलन के लिए सिद्धांत का महत्व

कुछ लोग सोचते हैं कि लेनिनवाद सिद्धांत की अपेक्षा व्यवहार को ही प्रधानता देता है, क्योंकि उसका मुख्य उद्देश्य मार्क्सवादी सिद्धांत को कार्यरूप देना, उन्हें ''कार्यान्वित करना'' है और जहां तक सिद्धांत का संबंध है, कहा जाता है कि लेनिनवाद उसकी अधिक परवाह नहीं करता. हम जानते हैं कि सिद्धांत की ओर से, विशेष कर दर्शनशास्त्र की ओर से ''उदासीन रहने'' के लिए लेनिन को प्लेखानोव जब-तब ताने दिया करते थे. हम यह भी जानते हैं कि वर्तमान परिस्थितियों से उत्पन्न व्यावहारिक कार्यों का बोझ बहुत बढ़ जाने से व्यावहारिक क्षेत्र के बहुत से लेनिनवादी कार्यकर्ता भी सिद्धांत के लिए विशेष सम्मान नहीं रखते. मैं स्पष्ट शब्दों में कह देना चाहता हूं कि लेनिन और लेनिनवाद के संबंध में यह ऊटपटांग धारणा बिल्कुल भ्रमपूर्ण और निराधार है. सिद्धांत की ओर उपेक्षा दिखलाने की कार्यकर्ताओं की यह कोशिश लेनिनवाद की संपूर्ण प्रकृति के विरुद्ध है और उसके उद्देश्यों के लिए संकटजनक है.

सभी देशों के मजदूर आंदोलन का अनुभव ही अपने सामान्य रूपों में सिद्धांत कहलाता है. क्रांतिकारी व्यवहार से विलग हो जाने पर सिद्धांत का आलोक न मिलने पर व्यवहार अंधेरे में ही टटोलता रह जाता है. किंतु अगर सिद्धांत का निर्माण क्रांतिकारी आंदोलन के साथ अविच्छिन्न संबंध रखते हुए किया गया हो तो वह मजदूर आंदोलन में एक प्रचंड शक्ति बन सकता है. क्योंकि सिद्धांत और एकमात्र सिद्धांत ही वह चीज है जो आंदोलन की क्षमता के संबंध में हमारे अन्दर विश्वास भर सकता है और बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल नीति अपनाने और चारों ओर की घटनाओं के अंतर्निहित संबंधों को समझने की हमें शक्ति दे सकता है. क्योंकि सिद्धांत और एकमात्र सिद्धांत ही वह चीज है जो व्यवहार का पथ आलोकित करके हमें यह परखने में समर्थ बनाता है कि विभिन्न वर्ग आज किस तरह और किस ओर अग्रसर

हो रहे हैं और भविष्य में उनकी प्रगति किस मार्ग से होगी. लेनिन ने ही इस सर्वविदित उक्ति को सैकड़ों बार प्रकट किया था और दुहराया था कि "*क्रांतिकारी सिद्धांत के बिना क्रांतिकारी आंदोलन असंभव है.*" (इटालिक्स मेरे द्वारा – स्तालिन) (लेनिन, **ग्रंथावली**, खंड 2, पृ. 47.)

जिस कठिन और जटिल राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में हमारी पार्टी को काम करना पड़ रहा है और अंतर्राष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व की जो भारी जिम्मेदारी उसके ऊपर आ पड़ी है, उसे ध्यान में रखते हुए अन्य लोगों की अपेक्षा लेनिन कहीं अच्छी तरह समझते थे कि ऐसी पार्टी के लिए सिद्धांत का कितना बड़ा महत्व है. 1902 में ही पार्टी के इस विशिष्ट कर्तव्य का आभास पाकर उन्होंने यह बतलाना आवश्यक समझा था कि

"हिरावल की भूमिका वही पार्टी पूरी कर सकती है जिसके मार्गदर्शन के लिए अत्यंत उन्नत सिद्धांत हो." (वही, पृ. 48.)

आज जब हमारी पार्टी की इस महान भूमिका के बारे में लेनिन की यह भविष्यवाणी सच प्रमाणित हो चुकी है तब कहने की आवश्यकता नहीं कि लेनिन का यह सिद्धांत और भी महत्वपूर्ण और सामर्थ्यवान बन गया है.

लेनिन सिद्धांत को कितना महत्व देते थे इसका आभास हमें इस एक बात से मिलता है कि इतना व्यस्त रहने पर भी उन्होंने भौतिकवादी दर्शन के प्रकाश में एंगेल्स से लेकर अपने समय तक के विज्ञान की सर्वश्रेष्ठ सफलताओं का दार्शनिक सार निकालने और उनके सामान्य निष्कर्ष को संसार के सामने रखने का महान और गुरुतर भार उठाया था और मार्क्सवादियों में फैली हुई तरह-तरह की भौतिकवाद विरोधी प्रवृत्तियों की सूक्ष्म और व्यापक आलोचना की थी. एंगेल्स ने कहा था कि "प्रत्येक नए महान आविष्कार के साथ भौतिकवाद को भी नया रूप धारण करना चाहिए." यह सर्वविदित है कि लेनिन ने ही अपने युग के इस महान कार्य को अपनी असामान्य पुस्तक **भौतिकवाद और अनुभवसिद्ध आलोचना** द्वारा पूरा किया था. दर्शनशास्त्र की ओर से ''उदासीन रहने'' का लेनिन पर अभियोग लगाने वाले प्लेखानोव को इस काम में हाथ लगाने का साहस भी न हुआ था.

स्वत:स्फूर्तता के "सिद्धांत" की आलोचना या आंदोलन में अग्रदल की भूमिका

स्वत:स्फूर्तता का "सिद्धांत" वास्तव में अवसरवादिता का सिद्धांत है; यह मजदूर आंदोलन की स्वत:स्फूर्तता (अपने आप बढ़ने की क्षमता) की उपासना का सिद्धांत है; यह एक ऐसा सिद्धांत है जो मजदूर वर्ग के अग्रदल द्वारा अर्थात मजदूर वर्ग की पार्टी द्वारा आंदोलन का नेतृत्व किए जाने की आवश्यकता को ही अस्वीकार करता है.

स्वतःस्फूर्तता की उपासना का सिद्धांत मजदूर आंदोलन के क्रांतिकारी स्वरूप का विरोधी है; यह मजदूर आंदोलन द्वारा पूंजीवाद के प्रधान स्तंभों पर प्रहार करने की नीति का विरोधी है. यह सिद्धांत इस नीति का समर्थक है कि मजदूर आंदोलन केवल "प्राप्य" मांगों को अर्थात पूंजीवाद द्वारा "स्वीकार किए जाने योग्य" मांगों को ही लेकर आगे बढ़े. अर्थात मजदूर आंदोलन "न्यूनतम विरोध का मार्ग" अपनाए. स्वतःस्फूर्तता का सिद्धांत मजदूर संघवाद (ट्रेडयूनियनिज्म) की विचारधारा है.

स्वतःस्फूर्तता की उपासना का सिद्धांत स्वतःस्फूर्त आंदोलनों को राजनीतिक रूप से संगठित बनाने की नीति का विरोधी है. यह इस बात का विरोधी है कि पार्टी मजदूर वर्ग की अगुआ बनकर उसके आगे आगे चले, जनता को वर्ग चेतना के धरातल पर लाए और उसके आंदोलन का नेतृत्व करे. वह इस विचार का समर्थक है कि मजदूर वर्ग के वर्ग सचेत लोग अपने आंदोलन को अपने आप बढ़ने दें, पार्टी उसके विकास में दखल न दे, बल्कि स्वयं उसकी पिछलग्गू बनकर चले. इस प्रकार स्वतःस्फूर्तता का सिद्धांत मजदूर आंदोलन में वर्ग सचेत लोगों की भूमिका को हीन ठहराने का सिद्धांत है; यह पिछलग्गूपन (खवोस्तिज्म-पुच्छवाद) की विचारधारा है और इस तरह हर प्रकार की अवसरवादिता का स्वाभाविक आधार है.

इस विचारधारा ने पहली रूसी क्रांति से भी पूर्व हमारी राजनीति में प्रवेश किया था. उस समय इसके अनुयायी "अर्थवादी" कहलाते थे. व्यावहारिक क्षेत्र में इन अर्थवादियों ने रूस में एक स्वतंत्र मजदूर पार्टी की आवश्यकता से इंकार किया; जारशाही को निर्मूल करने के उद्देश्य से चलनेवाले क्रांतिकारी मजदूर आंदोलन का उन्होंने विरोध किया; आंदोलन के भीतर उन्होंने मजदूर संघवादी नीति का प्रचार किया; और मजदूर आंदोलन के उदारपंथी पूंजीवादियों के आगे सिर झुकाने की नीति को सामान्य रूप से स्वीकार कर लिया.

पुराने इस्क्रा ने इस विचारधारा के खिलाफ लगातार संघर्ष किया. अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **क्या करें?** में लेनिन ने पिछलग्गूपन के इस सिद्धांत की तीव्र आलोचना की, जिससे न केवल "अर्थवाद" के नाम से प्रचलित विचारधारा की ही धज्जियां उड़ गई बल्कि रूसी मजदूर वर्ग के सच्चे क्रांतिकारी आंदोलन के सैद्धांतिक आधार की भी नींव पड़ी.

इस संघर्ष के बिना रूस में एक स्वतंत्र मजदूर पार्टी के निर्माण और क्रांति में उसके द्वारा अगुआई की बात सोचना बिल्कुल निरर्थक होता.

स्वतःस्फूर्तता की उपासना का यह सिद्धांत रूस की ही विशेषता नहीं है. यह अत्यंत व्यापक है और दूसरे इंटरनेशनल की तमाम पार्टियों में निरपवाद रूप से फैला हुआ है. यह सच है कि दूसरे देशों में इसका स्वरूप कुछ-कुछ बदल गया है. उदाहरण के लिए "उत्पादक शक्तियों" के नाम से प्रचलित सिद्धांत को ही ले लीजिए, जिसे दूसरे इंटरनेशनल के नेताओं ने बिल्कुल गंवारू बना दिया है. यह एक ऐसा सिद्धांत

है जिससे हर चीज का औचित्य ठहराने और हर आदमी को प्रसन्न करने की कोशिश की जाती है. इसके द्वारा तथ्यों को बार बार दोहराया जाता है और जब सब लोग सुनते सुनते थक जाते हैं तब उनकी व्याख्या की जाती है और इस प्रकार बातें कर लेने और घटित तथ्यों की व्याख्या कर लेने के बाद अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली जाती है. मार्क्स ने कहा था कि भौतिकवादी सिद्धांत को संसार की व्याख्या करने तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता, उसका संसार को बदलने में भी हाथ होना चाहिए, लेकिन काउत्स्की आदि का मार्क्स के इस विचार से कुछ मतलब नहीं है. वे तो उनके इस कथन के पहले भाग से ही संतोष कर लेना उचित समझते हैं.

काउत्स्कीपंथियों के इस अनोखे "सिद्धांत" के प्रयोग का एक उदाहरण यहां दिया जाता है. कहा जाता है कि साम्राज्यवादी युद्ध छिड़ने के पहले ही दूसरे इंटरनेशनल की पार्टियों ने धमकी दी थी कि अगर साम्राज्यवादी लड़ाई शुरू हो जाएगी तो वे भी "युद्ध के विरुद्ध युद्ध" की घोषणा कर देंगे. यह भी कहा जाता है कि जब लड़ाई छिड़ने को हुई तो इन पार्टियों ने "युद्ध के विरुद्ध युद्ध" नामक अपने नारे को त्याग दिया और ठीक उसके विपरीत नारा लगाया : "साम्राज्यवादी पितृभूमि के लिए युद्ध में जुट जाओ!" कहा जाता है कि नारों के इस परिवर्तन का मूल्य लाखों मजदूरों को अपनी जान देकर चुकाना पड़ा. मगर यह सोचना गलत होगा कि इसके लिए कोई आदमी जिम्मेदार था, या किसी ने मजदूर वर्ग के साथ विश्वासघात किया या मजदूर आंदोलन के साथ गद्दारी की! नहीं, बिल्कुल नहीं! जो होना था वही हुआ. फिर इसका दोष किस पर? पहली बात तो यह है कि इंटरनेशनल, जैसाकि प्रतीत होता है, युद्ध का नहीं "शांति का साधन" है. दूसरे, उस समय "उत्पादक शक्तियों की जो अवस्था" थी उसमें और कुछ किया ही नहीं जा सकता था. "दोष" इन कमबख्त "उत्पादक शक्तियों" का है. काउत्स्की महाशय ने बड़ी कृपा करके अपने "उत्पादक शक्तियों के सिद्धांत" के अनुसार यह व्याख्या हमें सुनाई है. अगर कोई इस "सिद्धांत" पर विश्वास नहीं करता तो वह मार्क्सवादी नहीं हो सकता और पार्टियों का स्थान, आंदोलन में उनकी भागीदारी ऐसे प्रश्न तो उठने ही नहीं चाहिए. "उत्पादक शक्तियों की अवस्था" जैसी महान शक्ति के आगे भला किसी पार्टी की क्या हस्ती है?

मार्क्सवाद को गलत ढंग से पेश करनेवाले ऐसे बीसियों 'सिद्धांतों' के उदाहरण दिए जा सकते हैं.

कहने की आवश्यकता नहीं कि नंगी अवसरवादिता पर परदा डालने के लिए बनाया गया यह नकली "मार्क्सवाद" पिछलग्गूपन के उसी सिद्धांत का यूरोपियन रूप है जिसके खिलाफ लेनिन ने प्रथम रूसी क्रांति के पहले ही संघर्ष किया था.

यह भी कहने की आवश्यकता नहीं कि इस सैद्धांतिक धोखाधड़ी के मायाजाल का अंत किए बिना पश्चिमी देशों में वास्तविक क्रांतिकारी पार्टियों का बनना असंभव है.

सर्वहारा क्रांति का सिद्धांत

सर्वहारा क्रांति का लेनिनवादी सिद्धांत तीन मौलिक सिद्धांतों के आधार पर स्थापित किया गया है.

पहला सिद्धांत : उन्नत पूंजीवादी देशों में महाजनी पूंजी का प्रभुत्व होता है; उक्त पूंजी का कारोबार प्रधानतया शेयरों और हुंडियों की खरीद-बिक्री के जरिए चलता है. कच्चे माल के उद्गमस्थान पर पूंजी बराबर पहुंचाई जाती है और पूंजी का यह निर्यात साम्राज्यवाद का एक आधारस्तंभ बन जाता है. महाजनी पूंजी के इस प्रभुत्व के फलस्वरूप उस पूंजी के मुट्ठीभर मालिकों की शक्ति सर्वव्यापी बन जाती है. इन सभी लक्षणों से इजारेदार पूंजीवाद का भयंकर शोषक रूप प्रकट होता है. और इन्हीं के चलते पूंजीवादी ट्रस्टों और सिंडीकेटों के जुए का बोझ हजारगुना असह्य बन जाता है. पूंजीवादी व्यवस्था के खिलाफ मजदूर वर्ग का विद्रोह तेज हो उठता है और सर्वहारा क्रांति को ही अपनी मुक्ति का एकमात्र मार्ग समझ जनता भी उसमें आ जाती है. (देखिए, **साम्राज्यवाद : पूंजीवाद की चरम अवस्था** – लेनिन)

इसलिए पहला निष्कर्ष यह है : पूंजीवादी देशों के अन्दर क्रांतिकारी संकट गहरा हो जाता है जिससे कि ''मेट्रोपोलिज'' (साम्राज्यवादी देशों) के अन्दर सर्वहारा क्रांति के रूप में विस्फोट के तत्व पूंजीभूत हो जाते हैं.

दूसरा सिद्धांत : उपनिवेशों (पराधीन देशों) को अधिकाधिक मात्रा में पूंजी का निर्यात होने लगता है; ''प्रभाव क्षेत्रों'' और उपनिवेशों के विस्तार से सारी दुनिया ढंक जाती है. पूंजीवाद शोषण दोहन की एक विश्वव्यापी व्यवस्था में परिणत हो जाता है जिसमें मुट्ठीभर ''उन्नत'' देश संसार की अधिकांश जनता को आर्थिक गुलामी और औपनिवेशिक शोषण की बेड़ियों में जकड़ देते हैं. इसके कारण जहां अलग-अलग देशों की अर्थनीतियां और भूभाग विश्वव्यापी अर्थनीति की एक ही श्रृंखला के अंग बन जाते हैं, वहीं, दूसरी तरफ, संसार की जनता दो शिविरों में बंट जाती है. एक तरफ तो मुट्ठीभर ''उन्नत'' पूंजीवादी देश होते हैं जो विशाल उपनिवेशों और परतंत्र देशों का शोषण और उनपर अत्याचार करते हैं. और दूसरी तरफ अधिकांश औपनिवेशिक और पराधीन देश होते हैं जो साम्राज्यवादी शासन से मुक्ति पाने और अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए लड़ने को बाध्य हो जाते हैं. (देखिए – **साम्राज्यवाद : पूंजीवाद की चरम अवस्था**)

इसलिए दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है : औपनिवेशिक देशों में क्रांतिकारी संकट बहुत गहरा हो जाता है और साम्राज्यवाद के बाहरी अर्थात औपनिवेशिक मोर्चे पर उसके खिलाफ विद्रोह के तत्व एकत्र और पूंजीभूत हो जाते हैं.

तीसरा सिद्धांत : उपनिवेशों और 'प्रभाव क्षेत्रों' पर भिन्न-भिन्न साम्राज्यवादी देश एकाधिकार स्थापित कर लेते हैं. परंतु भिन्न-भिन्न पूंजीवादी देशों का विकास असमान

रूप से होता है जिसमें पहले के पिछड़े हुए देश शीघ्रता से उन्नति करके एकाएक शक्तिशाली बन जाते हैं. अतएव पहले से ही दूसरे देशों को हड़प कर बैठ रहने वाले पुराने साम्राज्यवादी देशों और अपने 'हिस्से' की मांग करनेवाले इन नए पूंजीवादी देशों के बीच संसार के पुनर्विभाजन के लिए उन्मत्त संघर्ष चलने लगता है और साम्राज्यवादी युद्ध ही इस अस्तव्यस्त 'संतुलन' की पुनर्स्थापना का एकमात्र मार्ग बन जाता है. इसके कारण साम्राज्यवाद के तीसरे मोर्चे अर्थात अंतरपूंजीवादी मोर्चे पर भी संकट गहरा होता जाता है. इससे साम्राज्यवाद कमजोर होता है और उसके विरोध के प्रथम दोनों ही मोर्चों के एक होने में सुविधा होती है. अर्थात साम्राज्यवादी देशों के क्रांतिकारी आंदोलन, दोनों एक ही साम्राज्यवाद विरोधी संयुक्त मोर्चे में संगठित हो जाते हैं. (देखिए – **साम्राज्यवाद : पूंजीवाद की चरम अवस्था**)

इसलिए तीसरा निष्कर्ष यह निकलता है : साम्राज्यवादी व्यवस्था में युद्ध को नहीं रोका जा सकता और साम्राज्यवाद के विश्वव्यापी मोर्चे के विरुद्ध यूरोप की सर्वहारा क्रांति तथा पूरबी देशों की औपनिवेशिक क्रांति की शक्तियों का एक ही विश्वव्यापी संयुक्त मोर्चे का रूप धारण कर लेना अनिवार्य है.

इन तीनों निष्कर्षों को मिलाकर लेनिन एक आम निष्कर्ष पर पहुंचते हैं: *"साम्राज्यवाद समाजवादी क्रांति का आरम्भ काल है."* (इटालिक्स मेरे द्वारा – स्तालिन)(लेनिन, **ग्रंथावली**, भाग 5, पृ. 55.)

लेनिन द्वारा साम्राज्यवाद के इस महत्वपूर्ण विश्लेषण के बाद सर्वहारा क्रांति, उसके स्वरूप, उसके परिणाम, उसकी गहराई और उसकी योजना आदि के संबंध में हमारा दृष्टिकोण ही बदल जाता है.

पहले मजदूर क्रांति की अवस्थाओं का विश्लेषण अलग-अलग देशों की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखकर किया जाता था. परंतु अब ऐसा करना पर्याप्त नहीं है. अब तमाम या अधिकांश देशों की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखकर अथवा विश्वव्यापी अर्थव्यवस्था की स्थिति के दृष्टिकोण से ही इस बात पर विचार करना चाहिए, क्योंकि अलग-अलग देश या अलग-अलग आर्थिक व्यवस्थाएं अब अपने आप में परिपूर्ण नहीं रह गई हैं, वे एक ही विश्वव्यापी आर्थिक व्यवस्था की कड़ियां बन गई हैं, क्योंकि पुराना ''सुसंस्कृत'' पूंजीवाद अब साम्राज्यवाद का रूप धारण कर चुका है और साम्राज्यवाद वह विश्वव्यापी व्यवस्था है जिसमें मुट्ठीभर ''उन्नत'' देश संसार की अधिकांश जनता को आर्थिक गुलामी की जंजीरों में कस देते हैं और उनका शोषण करते हैं.

पहले किसी देश विशेष में, या यों कहना अधिक सही होगा कि किसी एक या दूसरे विकसित देश में सर्वहारा क्रांति के लिए उपयुक्त बाह्य परिस्थितियों की उपस्थिति या अनुपस्थिति की बात की जाती थी. लेकिन अब यह दृष्टिकोण ठीक नहीं है. अब हमें साम्राज्यवाद के पूर्ण विस्तार को ही एक विश्वव्यापी आर्थिक

व्यवस्था मानकर उसके अन्दर क्रांति के लिए उपयुक्त आदर्श परिस्थितियों की उपस्थिति या अनुपस्थिति को ध्यान करने चाहिए. इस व्यवस्था के अन्दर कुछ ऐसे देश हो सकते हैं जिनका पर्याप्त औद्योगिक विकास अभी तक न हो पाया है. परंतु यदि यह पूरी व्यवस्था, या अधिक सही यह है कि, चूंकि यह पूरी व्यवस्था क्रांति के लिए परिपक्व हो चुकी है इसलिए इसके अन्दर कुछ ऐसे अविकसित या पिछड़े हुए देशों का होना क्रांति के मार्ग में कोई बड़ी कठिनाई नहीं उपस्थित कर सकता.

पहले किसी इस या उस विशेष रूप से विकसित देश में सर्वहारा क्रांति की बात की जाती थी और उस देश की क्रांति को उस देश के पूंजीवाद के विरुद्ध एक अलहदा और स्वतंत्र चीज समझा जाता था. परंतु अब यह दृष्टिकोण पर्याप्त नहीं रहा. अब हमें विश्वव्यापी सर्वहारा क्रांति की बातें करनी चाहिए, क्योंकि अब पूंजी के अलग-अलग राष्ट्रीय मोर्चे एक दूसरे से गुंथ गए हैं और साम्राज्यवाद के एक ही विश्वव्यापी मोर्चे के अंग बन गए हैं. अतएव साम्राज्यवाद का विरोध भी अब तमाम देशों के क्रांतिकारी आंदोलनों के एक ही संयुक्त मोर्चे से किया जाना चाहिए.

पहले सर्वहारा क्रांति को किसी एक देश के आंतरिक विकास का ही परिणाम माना जाता था. परंतु अब यह दृष्टिकोण पर्याप्त नहीं रहा. अब सर्वहारा क्रांति को प्रधानतया साम्राज्यवाद के विश्वव्यापी मोर्चे के अन्दर चलने वाले आंतरिक विरोधों के विकास का परिणाम समझना चाहिए. सच तो यह है कि किसी देश की सर्वहारा क्रांति को विश्वव्यापी साम्राज्यवादी मोर्चे की जंजीर के उस देश में टूट जाने का परिणाम मानना चाहिए.

क्रांति का आरम्भ कहां होगा? कहां, किस देश में पूंजी के मोर्चे को पहले पहल भेदा जा सकेगा?

इस प्रश्न का उत्तर पहले साधारणतया इस ढंग से दिया जाता था कि क्रांति का आरम्भ वहां होगा जहां उद्योग-धंधे अधिक विकसित होंगे, जहां की आबादी में मजदूर वर्ग का बहुमत होगा, जहां का सांस्कृतिक धरातल ऊंचा होगा और जहां जनता को अधिक जनतांत्रिक सुविधाएं होंगी.

परंतु क्रांति का लेनिनवादी सिद्धांत इस उत्तर से सहमत नहीं है. लेनिनवादी कहते हैं : *नहीं; कोई जरूरी नहीं कि क्रांति पहले पहल वहीं सफल हो जहां उद्योग-धंधे अधिक विकसित हो चुके हैं* आदि. पूंजी का मोर्चा तो पहले वहां टूटेगा जहां साम्राज्यवाद की जंजीर सबसे कमजोर है, क्योंकि सर्वहारा क्रांति, विश्वव्यापी साम्राज्यवादी मोर्चे की जंजीर की सबसे कमजोर कड़ी के टूटने का ही परिणाम है. इसलिए हो सकता है कि वह देश जहां से क्रांति आरम्भ हुई है, जहां पर पूंजी का मोर्चा तोड़ दिया गया है, दूसरे अधिक विकसित देशों की तुलना में पूंजीवादी विकास की दृष्टि से पिछड़ा हुआ हो. और हो सकता है कि इस पिछड़े हुए देश में क्रांति सफल हो जाए और उससे अधिक विकसित देश पूंजीवादी चौखटे में ही कैद रह जाए.

1917 में विश्वव्यापी साम्राज्यवादी मोर्चे की जंजीर दूसरे देशों की अपेक्षा रूस में अधिक कमजोर साबित हुई. वहीं वह जंजीर टूट गई और सर्वहारा क्रांति का रास्ता खुल गया. ऐसा क्यों हुआ? इसलिए कि रूस में एक महान जनक्रांति का ज्वार उठ रहा था और उसके आगे आगे बढ़ रहे थे क्रांतिकारी मजदूर. जमींदारों के शोषण और अत्याचार की चक्की में पिस रहे किसानों का विशाल जनसमूह मजदूर वर्ग का मित्र और सहायक था. ऐसा इसलिए भी हुआ कि रूसी क्रांति का नेतृत्व करने वाली जार और उसकी शासन साम्राज्यवाद के ऐसे वीभत्स रूप का प्रतिनिधि था जिसकी कोई नैतिक प्रतिष्ठा नहीं रह गई थी और जिसके खिलाफ देश की सारी जनता घृणा करती थी. अतएव यद्यपि रूस पूंजीवादी विकास के क्षेत्र में फ्रांस या जर्मनी, इंगलैंड या संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशों से पिछड़ा हुआ था तो भी वहां साम्राज्यवादी जंजीर कमजोर साबित हुई.

निकट भविष्य में साम्राज्यवादी जंजीर कहां टूटेगी? फिर वहीं जहां वह सबसे कमजोर होगी. यह असंभव नहीं है कि वह जंजीर हिंदुस्तान जैसे देश में ही टूट जाए, क्यों? क्योंकि वहां पर एक बढ़ता हुआ, जंगजू और क्रान्तिकारी मजदूर वर्ग है, राष्ट्रीय स्वाधीनता का आंदोलन जिसका मित्र और सहायक है. भारत का राष्ट्रीय आंदोलन स्वयं काफी महत्वपूर्ण और शक्तिशाली है. इसका एक कारण यह भी है कि भारतीय क्रांति का विरोधी और दुश्मन एक विदेशी साम्राज्यवाद है जिसे सब पहचानते हैं, जिसकी कोई नैतिक प्रतिष्ठा नहीं है और जो हिंदुस्तान की दलित शोषित जनता की सर्वथा उचित घृणा का पात्र है.

यह भी काफी संभव है कि वह जंजीर जर्मनी में टूटे, क्योंकि क्रांति की जो शक्तियां भारत जैसे देश में काम कर रही हैं जर्मनी पर भी उनका प्रभाव पड़ना आरम्भ हो गया है. लेकिन जर्मनी और भारत के विकास में जो विशाल अंतर है, इसमें संदेह नहीं कि जर्मन क्रांति की प्रगति और परिणाम पर उसकी भी छाप पड़ेगी.

इसलिए लेनिन ने कहा था कि "पश्चिमी यूरोप के पूंजीवादी देश चौरस रास्ते पर चलकर समाजवाद में 'परिपक्व' नहीं हो रहे हैं. समाजवाद की ओर उनके विकास का मार्ग शोषण-दोहन की घाटियों से होकर गुजरता है. कुछ देश दूसरे देशों का शोषण कर रहे हैं, पूरब के तमाम देशों के शोषण के साथ-साथ साम्राज्यवादी युद्ध में हारे हुए देशों का भी शोषण होने लगा है. दूसरी तरफ, प्रथम साम्राज्यवादी युद्ध के ही फलस्वरूप पूरब के देश क्रांतिकारी संघर्ष की तरफ पूरी तरह आकृष्ट हो गए हैं और विश्वव्यापी क्रांतिकारी आंदोलन के अभिन्न अंग बन चुके हैं." (लेनिन, ग्रंथावली, खंड 9, पृ. 388.)

संक्षेप में, साम्राज्यवादी मोर्चे की जंजीर नियमत: वहीं टूटेगी जहां उसकी कड़ी कमजोर होगी, और किसी भी हालत में यह आवश्यक नहीं है कि वह वहां टूटे जहां पूंजीवाद अधिक विकसित हो चुका है और जहां की जनसंख्या में मजदूर और किसानों

की संख्या किसी निश्चित प्रतिशत में है आदि-आदि.

यही कारण है कि सर्वहारा क्रांति से संबंधित प्रश्नों पर निर्णय करते समय किसी खास देश की जनसंख्या में मजदूर के अनुपात के हिसाब किताब के आंकड़ों का वह विशेष महत्व नहीं होता जो दूसरे इंटरनेशनल के पंडित इतनी व्यग्रता से बताते फिरते हैं. ये पंडित साम्राज्यवाद को नहीं समझते और क्रांति के नाम से ही कांपते हैं.

और भी दिलचस्प, दूसरे इंटरनेशनल के बहादुरों ने बराबर यह दावा किया है (और करते ही जा रहे हैं) कि पूंजीवादी-जनवादी क्रांति और सर्वहारा क्रांति के बीच एक खाई है, या कम से कम चीनी दीवार जैसी कोई चीज है जो उन दोनों को एक-दूसरे से पृथक करती है. ये वाक्शूर घोषित करते हैं कि दोनों क्रांतियों के बीच समय की एक लंबी अवधि होगी. शासन सूत्र अपने हाथ में ले लेने के बाद संपत्तिजीवी वर्ग इस अवधि में पूंजीवाद का विकास करेगा और मजदूर वर्ग शक्ति संचय करेगा और पूंजीवाद के विरुद्ध "निर्णयात्मक संघर्ष" के लिए अपने को तैयार करेगा. आमतौर पर इस अवधि का विस्तार अधिक नहीं तो कई दशाब्दियों तक जरूर बताया जाता है. यह सिद्ध करना शायद ही आवश्यक है कि चीनी दीवार का यह "सिद्धांत" इस साम्राज्यवादी युग में वैज्ञानिक दृष्टि से बिल्कुल ही अर्थहीन है. वास्तव में यह संपत्तिजीवियों की क्रांतिविरोधी आकांक्षाओं पर परदा डालने और उन्हें छिपा रखने का साधन है. साम्राज्यवाद का युग संघर्ष और युद्धों से भरा हुआ है. वह "समाजवादी क्रांति का आरम्भ काल" है जिसमें "उदीयमान" पूंजीवाद "मरणासन्न" पूंजीवाद का रूप धारण कर रहा है और संसार के तमाम देशों में क्रांतिकारी आंदोलन की वृद्धि हो रही है, जिसमें साम्राज्यवाद, बिना किसी अपवाद के तमाम प्रतिक्रियावादी शक्तियों के साथ गठबंधन कर रहा है, यहां तक कि वह जारशाही और सामंतवाद से भी मैत्री करने पर उतर आया है. उसमें पश्चिमी देशों के मजदूर आंदोलन से लेकर पूर्व के राष्ट्रीय स्वतंत्रता के आंदोलनों तक समग्र क्रांतिकारी शक्तियों का सम्मिलन नितांत आवश्यक बन गया है, और उसमें साम्राज्यवाद के विरुद्ध क्रांतिकारी संघर्ष किए बिना सामंतवादी व्यवस्था के अवशेषों को भी उखाड़ फेंकना असंभव हो गया है. इन परिस्थितियों में यह सिद्ध करना शायद ही आवश्यक है कि साम्राज्यवादी युग में किसी भी विकसित देश की पूंजीवादी जनवादी क्रांति सर्वहारा क्रांति की भूमिका मात्र होगी और आगे चलकर अवश्य ही उसका रूप धारण कर लेगी. रूसी क्रांति के इतिहास ने प्रत्यक्ष रूप से प्रमाणित कर दिया है कि यह कथन सही और बिल्कुल निर्विवाद है. यह अकारण नहीं था कि प्रथम रूसी क्रांति के पहले 1905 में ही लेनिन ने अपनी पुस्तक **दो कार्यनीतियां** में पूंजीवादी-जनवादी क्रांति और सोशलिस्ट क्रांति को एक ही जंजीर की दो कड़ियां बताया था और रूसी क्रांति के एक ही अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में उन्हें चित्रित किया था :

"किसान जनसमूह का सहयोग प्राप्त करके सर्वहारा वर्ग को जनवादी क्रांति को

उसके चरम लक्ष्य तक पहुंचाना चाहिए, जिससे कि निरंकुश शासन के विरोध को बलपूर्वक दबाया जा सके और पूंजीवादियों की अस्थिरता को पंगु बना दिया जाए. जनता में से अर्धसर्वहारा स्तर के लोगों का सहयोग प्राप्त करके सर्वहारा वर्ग को समाजवादी क्रांति पूर्ण करनी चाहिए जिससे कि पूंजीवादियों का विरोध बलपूर्वक दबाया जा सके और किसानों और निम्नपूंजीवादियों की अस्थिरता को पंगु बना दिया जाए. सर्वहारा वर्ग को यही सब काम करने हैं जिन्हें क्रांति की रूपरेखा संबंधी अपने विवाद और प्रस्तावों में नए इस्क्रावादी (अर्थात मेंशेविक-संपादक) सदैव इतने संकुचित रूप में रखते हैं." (लेनिन, **ग्रंथावली**, खंड 3 पृ. 110 111.)

मैं यहां पर लेनिन की अन्य और इसके बाद की रचनाओं का उल्लेख तक नहीं कर रहा हूं. इन रचनाओं में पूंजीवादी क्रांति के सर्वहारा क्रांति में परिवर्तित हो जाने का सिद्धांत **दो कार्यनीतियां** की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्टता से प्रतिपादित किया गया है जो क्रांति के लेनिनवादी सिद्धांत की आधारशिला के रूप में प्रकट होता है.

मालूम होता है कि कुछ लोगों का यह विश्वास है कि इस परिणाम पर लेनिन 1916 में पहुंचे थे, और उसके पहले तक उनका विचार था कि रूसी क्रांति पूंजीवादी सीमाओं में ही बंधी रहेगी और फलस्वरूप राजसत्ता मजदूर-किसान वर्ग के अधिनायकत्व की शासन संस्थाओं के हाथों से निकलकर, मजदूर वर्ग के हाथ में नहीं, बल्कि पूंजीपतियों के हाथ में चली जाएगी. कहा जाता है कि हमारे कम्युनिस्ट अखबारों में भी इस बात का प्रतिपादन होने लगा था. मैं जोर देकर कहता हूं कि यह कथन सर्वथा निराधार है और वास्तविकता के बिल्कुल प्रतिकूल है.

पार्टी की तीसरी कांग्रेस में (1905) लेनिन ने जो प्रसिद्ध भाषण दिया था, उसकी ओर मैं आपका ध्यान दिलाना चाहता हूं. उसमें उन्होंने बतलाया था कि मजदूर-किसान वर्ग के अधिनायकत्व का अर्थात जनवादी क्रांति की सफलता का तात्पर्य "'अमन-कानून' की व्यवस्था करना" न होकर "युद्ध की व्यवस्था करना" होगा. (लेनिन, **ग्रंथावली**, खंड 7, पृ. 264.)

लेनिन के प्रसिद्ध लेख **अस्थाई सरकार के बारे में** (1905) का भी मैं उल्लेख कर सकता हूं. बढ़ती हुई रूसी क्रांति की संभावनाओं का वर्णन करते हुए लेनिन ने इस लेख में पार्टी के जिम्मे यह काम सौंपा था : "हमें यह प्रयत्न करना चाहिए कि रूसी क्रांति कुछ महीनों तक ही चलकर वर्तमान शासकों से छोटी-मोटी सुविधाएं प्राप्त करके ही न समाप्त हो जाए. हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि वह वर्षों तक चले और वर्तमान शासकों को ही जड़-मूल से उखाड़ फेंके."

क्रांति की इन संभावनाओं को अधिक स्पष्ट करते हुए और यूरोपियन क्रांति के साथ उसका संबंध बतलाते हुए लेनिन ने उसी लेख में आगे लिखा था : "और हम अगर यह काम कर सके तो क्रांति की यह आग सारे यूरोप में फैल जाएगी और जो यूरोपियन मजदूर वर्ग आज पूंजीवादी प्रतिक्रियावादियों के पावों तले कुचला जाकर

बजाए गया है, वह पुनः उठकर फिर उठ खड़ा होगा और हमें दिखला देगा कि 'क्रांति कैसे करनी चाहिए?' तब क्रांति की लपटें (प्रतिक्रांति) यूरोप से फिर रूस को और लौट आएंगी और थोड़े से क्रांतिकारी वर्षों के अल्पकाल को कई क्रांतिकारी दशकों के युग में बदल देंगी." (लेनिन, **ग्रंथावली**, खंड 3, पृ.31.)

लेनिन के एक और प्रसिद्ध लेख का भी मैं उल्लेख कर सकता हूं जो उन्होंने 1915 के नवम्बर में लिखा था. उसमें लेनिन ने कहा था : "मजदूर वर्ग इस उद्देश्य से लड़ रहा है - और बहादुरी के साथ लड़ता रहेगा - कि वह शासन सत्ता पर अपना अधिकार जमा सके, जनतंत्र की स्थापना कर सके, जमींदारों की भूमि छीन सके और *फौजी सामंती* साम्राज्यवाद के (अर्थात जारशाही के) चंगुल से पूंजीवादी रूस को मुक्त करने के संघर्ष में '*जनता के गैरमजदूर अंगों*' को भी लगा सके. जारशाही तथा जमींदारों के चंगुल से पूंजीवादी रूस को मुक्त करने के बाद मजदूर वर्ग देहाती मजदूरों के खिलाफ धनी किसानों को मदद नहीं पहुंचाएगा, बल्कि इस परिस्थिति का लाभ उठाकर वह *तुरंत* (इटैलिक्स मेरे द्वारा – स्तालिन) आगे बढ़ेगा और यूरोपियन सर्वहारा वर्ग के सहयोग से रूस में समाजवादी क्रांति को पूरा कर डालेगा." (लेनिन, **ग्रंथावली**, खंड 8, पृ. 163.)

अंत में, **सर्वहारा क्रांति और गद्दार काउत्स्की** नामक लेनिन की पुस्तिका के एक प्रसिद्ध अनुच्छेद का मैं उल्लेख करना चाहता हूं. रूसी क्रांति के विस्तार के संबंध में दो **कार्यनीतियों** से जो उद्धरण हम ऊपर दे आए हैं उनका जिक्र करते हुए लेनिन इस नतीजे पर पहुंचे थे :

"घटनाओं ने वही रूप धारण किया है जो हमने कहा था. क्रांति की गति ने हमारे तर्कों की सच्चाई को प्रमाणित कर दिया है. *पहले तो*, राजतंत्र के विरुद्ध, जमींदारों के विरुद्ध, मध्यकालीन शासन व्यवस्था के विरुद्ध 'सारा' किसान वर्ग उठ खड़ा हुआ और इस हद तक क्रांति का स्वरूप भी पूंजीवादी, पूंजीवादी-जनवादी ही रहा. दूसरे, *पूंजीवाद के विरुद्ध*, देहाती धनिकों, धनी किसानों और मुनाफाखोरों के भी विरुद्ध अत्यंत गरीब किसान, अर्धसर्वहारा और सभी तरह के शोषित लोग उठ खड़े हुए और इस हद तक क्रांति का स्वरूप भी *समाजवादी* हो गया. क्रांति की इन दो अवस्थाओं के बीच किसी तरह की बनावटी दीवार खड़ी करना बिल्कुल गलत है. मजदूर वर्ग क्रांति के लिए किस हद तक तैयार है और गरीब किसानों के साथ उसकी एकता कहां तक बढ़ी हुई है इन्हीं दो बातों पर क्रांति की इन दो अवस्थाओं का अंतर निर्भर करता है. इस अंतर को जो आदमी *उससे बड़ा करके* दिखलाता है, वह मार्क्सवाद को तोड़-मरोड़ कर उसे गंवारू और अवैज्ञानिक बनाने तथा मार्क्सवाद की जगह उदारपंथी पूंजीवाद को प्रतिष्ठित करने की कोशिश करता है." (लेनिन, **ग्रंथावली**, खंड 7, पृ. 183.)

मैं समझता हूं ये उद्धरण **पर्याप्त** हैं.

फिर भी कुछ लोग प्रश्न करेंगे : मान लिया कि यह सब ठीक है. लेकिन तब लेनिन ने "अविराम क्रांति" की धारणा का विरोध क्यों किया था?'

क्योंकि लेनिन का विचार था कि किसान वर्ग की क्रांतिकारी क्षमता का "पूरी तरह" उपयोग करके जारशाही को समूल नष्ट कर दिया जाए और पूंजीवादी क्रांति को सर्वहारा क्रांति में बदल दिया जाए. लेकिन "अविराम क्रांति" के समर्थक रूसी क्रांति में किसान वर्ग की महत्वपूर्ण भूमिका को न समझ पाए थे; वे किसान समूह की क्रांतिकारी क्षमता और शक्ति को कम करके आंकते थे; यहां तक कि किसानों का नेतृत्व करने की रूसी मजदूर वर्ग की शक्ति और क्षमता को भी वे घटाकर ही देखते थे. इस प्रकार वे किसानों को पूंजीपतियों के प्रभाव से छुड़ाकर मजदूर वर्ग के झंडे के नीचे संगठित करने के काम में बाधा डालते थे.

क्योंकि लेनिन का कहना था कि शासन का अधिकार सर्वहारा वर्ग के हाथ में *तब आएगा* जब क्रांतिकारी कार्यों को वह उनकी चरम सीमा पर पहुंचा देगा. अर्थात सर्वहारा वर्ग द्वारा अधिकार-ग्रहण उसके क्रांतिकारी कार्यों का परिणाम होगा. लेकिन "अविराम" क्रांति के समर्थकों का मत इसके विपरीत था. वे सर्वहारा शासन की स्थापना से ही क्रांतिकारी कार्य को *आरम्भ करना* चाहते थे. वे नहीं समझते थे कि वे सामंतवाद के अवशेषों का अंत करने जैसी "छोटी-छोटी बातों" की ओर से आंखें मूंद ले रहे थे और रूसी किसान वर्ग जैसी महत्वपूर्ण क्रांतिकारी शक्ति की अवहेलना कर रहे थे. वे यह भी नहीं समझते थे कि इस तरह की नीति किसानों को सर्वहारा वर्ग की ओर लाने में बाधक बनेगी.

यही कारण था कि लेनिन ने "अविराम क्रांति" के समर्थकों का तीव्र विरोध किया. उनका विरोध क्रांति के अविराम होने के प्रश्न पर नहीं था; वे खुद अविरामता के ही समर्थक थे. उनका विरोध इस बात पर था कि ये अविरामतावादी लोग क्रांति में किसान वर्ग की भूमिका को, सर्वहारा के सहायक के रूप में उसकी महान शक्ति को, कम ठहराते थे और सर्वहारा नेतृत्व की धारणा को समझ नहीं पाते थे.

"अविराम क्रांति" का विचार कोई नया नहीं है. 1850 के लगभग **कम्युनिस्ट लीग के सम्मुख भाषण** में मार्क्स ने पहले-पहल इस विचार को प्रस्तुत किया था. उसी भाषण से हमारे "अविरामतावादियों" ने इस विचार को ग्रहण किया. लेकिन उसे अपनाते समय इन लोगों ने मार्क्स के इस विचार को बहुत-कुछ बदल दिया और इस प्रकार उसे भद्दा और अव्यवहार्य बना दिया. इस गलती को दूर करने के लिए और अविराम क्रांति की मार्क्सवादी परिकल्पना को शुद्ध रूप से ग्रहण करके उसे क्रांतिकारी सिद्धांत की आधारशिला के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए लेनिन जैसे अनुभवी व्यक्ति की आवश्यकता थी.

अन्य कई क्रांतिकारी-जनवादी मांगों को गिनाने और उन्हें प्राप्त करने के लिए कम्युनिस्टों का आह्वान करने के उपरांत मार्क्स ने इस **भाषण** में "अविराम क्रांति"

के बारे में इस प्रकार लिखा था :

"जनवादी विचारों के निम्नपूंजीवादी लोग क्रांति को जल्द से जल्द समाप्त कर देना चाहते हैं; अधिक से अधिक वे उपरोक्त मांगों के प्राप्त होने तक ठहरेंगे. किंतु यह हमारा काम है, और यह हमारे हित में है कि क्रांति का हम तबतक अविराम रूप से विस्तार करते चलें, जबतक लगभग सभी संपत्ति के स्वामी वर्गों का प्रभाव नष्ट न हो जाए; जबतक सर्वहारा वर्ग राजसत्ता पर अधिकार न जमा ले; और एक ही नहीं, बल्कि सभी प्रमुख देशों के सर्वहारा संगठन जबतक इतना आगे न बढ़ जाएं कि उनकी परस्पर स्पर्धा का अंत हो जाए और कम से कम प्रधान उत्पादक शक्तियां सर्वहारा वर्ग के हाथ में न आ जाएं."

अर्थात, (i) मार्क्स का विचार यह नहीं था कि 1850-60 की परिस्थिति में जर्मनी में क्रांति का *आरम्भ* सर्वहारा शासन की तात्कालिक स्थापना से होगा, लेकिन हमारे रूसी "अविरामतावादियों" का मत *ठीक यही* है.

(ii) मार्क्स का कहना था कि कदम-ब कदम पूंजीपतियों को हराकर और उनके एक के बाद दूसरे भाग को शासन और अधिकार के आसन से गिराकर ही शासन का अधिकार मजदूर वर्ग के *हाथों में आएगा*; सर्वहारा राज्य की स्थापना क्रांतिकारी कार्यों की पूरी श्रृंखला के परिणाम के ही रूप में होगी; और **इस राजसत्ता** का उपयोग करके मजदूर वर्ग हरेक देश में क्रांति की ज्वाला को उकसाने की कोशिश करेगा. साम्राज्यवादी परिस्थितियों में सर्वहारा क्रांति के संबंध में अपना सिद्धांत प्रतिपादित करते हुए और हमारी क्रांति का नेतृत्व करते हुए लेनिन ने जो कुछ किया और हमें सिखाया है, वह मार्क्स के इस मत के *पूर्णतया अनुकूल* है.

तात्पर्य यह है कि हमारे रूसी "अविरामतावादियों" ने न केवल रूसी क्रांति में किसान वर्ग की भूमिका को कम ठहराया है, न केवल उन्होंने सर्वहारा नेतृत्व के महत्व को कम करके आंका है, बल्कि "अविराम" क्रांति की मार्क्स की धारणा को भी बदलकर और भद्दा बनाकर उन्होंने उसे अव्यवहार्य बना दिया है.

यही कारण है कि लेनिन ने "अविरामतावादियों" के सिद्धांत की आलोचना करते हुए उसे "मौलिक" और "सुंदर" की उपाधियों से विभूषित किया था. साथ ही उन्होंने इन सिद्धांत बघारने वालों पर आरोप लगाया था कि "दस साल बीत गए और सामाजिक जीवन पर अभी तक इस सुंदर सिद्धांत का कोई असर न दीख पड़ा; तो भी ये लोग एक क्षण भी रुककर इसका कारण ढूंढने की चिंता नहीं करते!" (लेनिन का यह लेख रूसी "अविरामतावादियों" के सिद्धांत के प्रतिपादन के दस साल बाद 1915 में लिखा गया था) (लेनिन, **ग्रंथावली**, खंड 5, पृ. 162.)

लेनिन ने इस सिद्धांत को अर्धमेंशेविक ठहराते हुए कहा था : "निर्णायक क्रांतिकारी संघर्ष छेड़ने और सर्वहारा वर्ग द्वारा राजसत्ता पर अधिकार कर लेने की बात तो इसमें बोल्शेविकों से उधार ली गई है और क्रांति में किसान वर्ग की भूमिका

'अस्वीकार करने' की बात मेंशेविकों के घर से मांग लाई गई है" (**क्रांति की दो लाइन**, वही)

पूंजीवादी जनवादी क्रांति के सर्वहारा क्रांति में परिवर्तित होने तथा पूंजीवादी क्रांति का लाभ उठाकर उसे तुरंत सर्वहारा क्रांति में बदल देने का प्रयत्न करने के संबंध में लेनिन की यही धारणा थी.

अब हम आगे बढ़ें. पहले लोगों की यही धारणा थी कि पूंजीपतियों पर सफलता पाने के लिए सभी देशों या कम से कम अधिकांश विकसित देशों के मजदूर वर्ग को मिलकर प्रहार करना होगा. इसलिए समझा जाता था कि किसी एक देश में क्रांति का सफल होना असंभव है. लेकिन अब यह धारणा वास्तविकता के अनुकूल नहीं रह गई. अब हमें इस बात को मान करके आगे बढ़ना चाहिए कि क्रांति एक देश में सफल हो सकती है, क्योंकि साम्राज्यवाद की अवस्था में भिन्न भिन्न पूंजीवादी देशों का विकास अत्यंत असमान और विषम रूप से होता है; साम्राज्यवादी व्यवस्था के अन्दर इतने भयंकर अंतर्विरोध उत्पन्न हो गए हैं कि उनका परिणाम अनिवार्य रूप से युद्ध ही होता है और संसार के सभी देशों में क्रांतिकारी आंदोलन भी विकसित हो चुका है. इन सब कारणों से अलग-अलग देशों में मजदूर वर्ग की जीत न केवल अब संभव बन गई है, बल्कि आवश्यक हो गई है. रूसी क्रांति के इतिहास में इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जाता है. साथ ही यह बात भी न भूलनी चाहिए कि पूंजीपतियों पर सफलता तभी प्राप्त की जा सकती है जब कुछ अत्यंत आवश्यक अवस्थाएं मौजूद हों, कुछ विशिष्ट परिस्थितियां उत्पन्न हो चुकी हों. इन अवस्थाओं और इन परिस्थितियों के अभाव में सर्वहारा वर्ग के शासन पर अधिकार करने का प्रश्न भी नहीं उठ सकता.

वामपंथी कम्युनिज्म : एक बचकाना मर्ज नामक अपनी पुस्तक में लेनिन ने इन आवश्यकताओं का निर्देश करते हुए लिखा था,

"सभी क्रांतियों द्वारा प्रमाणित, विशेषकर बीसवीं सदी की तीनों रूसी क्रांतियों द्वारा प्रमाणित क्रांति का मूलभूत नियम यह है : क्रांति के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है कि शोषित-दलित जनसमुदाय पुरानी जिंदगी से ऊब उठा हो और उसे बदलने की मांग कर रहा हो; बल्कि उसके लिए यह भी आवश्यक है कि शोषक वर्ग अब पहले की तरह शासन और शोषण करने में समर्थ न हो. क्रांति तभी सफल हो सकती है जब "*निचले वर्गों*" के लोग पुराने ढंग से *रहना नहीं चाहते हों* और "ऊंचे वर्गों" के लोग *पुराने ढंग से अपना काम नहीं चला सकते हों*. दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि *शोषकों और शोषितों सबको प्रभावित करने वाले राष्ट्रव्यापी संकट के बिना क्रांति असंभव है*. (इटालिक्स मेरे द्वारा - स्तालिन) तात्पर्य यह कि क्रांति की सफलता के लिए आवश्यक है कि पहले तो मजदूरों का बड़ा भाग (या कम से कम वर्ग सचेत, चिंतनशील और राजनीतिक दृष्टि से क्रियाशील मजदूरों का बड़ा भाग)" क्रांति की

आवश्यकता को पूरी तरह समझता हो और उसके लिए अपना जीवन तक बलिदान कर देने को तैयार हो; और दूसरे शासक वर्गों को एक शासन-संकट ने ग्रस लिया हो जिसके कारण जनता का अत्यंत पिछड़ा हुआ भाग भी राजनीति की ओर खिंच रहा हो.... और सरकार की शक्ति क्षीण हो गई हो और उसे तुरंत उखाड़ फेंकना क्रांतिकारियों के लिए संभव बन गया हो. (लेनिन, **ग्रंथावली**, खंड 10, पृ. 127.)

किंतु किसी एक देश में पूंजीपतियों का अंत हो जाने और सर्वहारा के शासन की स्थापना हो जाने से ही समाजवाद की पूर्ण विजय को निश्चित नहीं माना जा सकता. अपना शासन संगठित कर लेने और किसानों को पूरी तरह मिला लेने के बाद ऐसे देश का मजदूर वर्ग समाजवादी समाज के निर्माण के लिए आगे बढ़ सकता है और उसे बढ़ना भी चाहिए. पर क्या इतने से ही वह समाजवाद की पूर्ण और अंतिम विजय प्राप्त करने में सफल हो सकता है? अर्थात क्या एक ही देश की शक्ति और साधन के सहारे वह समाजवाद को पूरी तरह संगठित कर सकता है बाहरी हस्तक्षेप और फलतः पूंजीवाद की पुनर्स्थापना के खतरे से उस देश को बचा लेने के लिए पूरी तरह आश्वस्त और निश्चिंत हो सकता है? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता. इस तरह आश्वासन और निश्चिंतता के लिए आवश्यक है कि क्रांति कम से कम कई देशों में विजयी हो जाए. इस प्रकार दूसरे देशों में क्रांति की प्रगति और सफलता में योगदान देना, जिस देश में क्रांति सफल हो चुकी है उसका आवश्यक कर्तव्य हो जाता है. अतएव एक देश में क्रांति की सफलता को अपने आप में परिपूर्ण न समझकर उसे अन्य देशों के मजदूरों की विजय में योगदान देने का, उस विजय के दिन को निकट लाने का एक साधन मानना चाहिए.

इस विचार को सूत्र रूप में प्रकट करते हुए लेनिन ने कहा था कि विजयी क्रांति का कर्तव्य है कि "*सभी देशों में* क्रांति को जाग्रत करने, उसकी सहायता करने और उसे विकसित करने *के लिए* उस एक देश में भरपूर प्रयत्न किया जाए." (लेनिन, **सर्वहारा क्रांति और गद्दार काउत्स्की**, **ग्रंथावली**, खंड 7 पृ. 182.)

सर्वहारा क्रांति संबंधी लेनिन के सिद्धांत की ये ही प्रधान बातें हैं.

४. सर्वहारा अधिनायकत्व

इस विषय में मैं तीन मुख्य प्रश्नों पर प्रकाश डालना चाहता हूं :

(i) सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व सर्वहारा क्रांति का हथियार है;

(ii) सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व पूंजीपति वर्ग पर सर्वहारा का प्रभुत्व स्थापित करने का साधन है;

(iii) सोवियत शासन सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का राजनीतिक स्वरूप है.

सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व सर्वहारा क्रांति का हथियार है

सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का प्रश्न प्रधानतया सर्वहारा क्रांति के वास्तविक अर्थ का प्रश्न है. सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व में ही यह क्रांति प्रतिफलित होती है; और उसी के द्वारा और उसी के रूप में यह (सर्वहारा) क्रांति तथा उसकी गति, उसकी रूपरेखा और उसकी सफलताएं साकार होती हैं. सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व सर्वहारा क्रांति का शस्त्र, उसका मुख्य साधन और उसका प्रधान आधारस्तंभ है. सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना दो उद्देश्यों से की जाती है. उसका प्रथम उद्देश्य पराजित शोषक वर्गों के समस्त विरोधों का अंत करके क्रांति की सफलताओं को दृढ़ बनाना है; और दूसरा उद्देश्य है सर्वहारा क्रांति को उसकी चरम सीमा तक पहुंचा कर समाजवाद को पूर्ण रूप से विजयी बनाना. सर्वहारा अधिनायकत्व के बिना भी क्रांति पूंजीपतियों को हराने और उनके शासन को उखाड़ फेंकने में समर्थ हो सकती है. किंतु विकास की एक निश्चित अवस्था में पहुंचने पर यदि वह सर्वहारा अधिनायकत्व के रूप में अपनी विशिष्ट शासन सत्ता स्थापित करके अपनी स्थिति को दृढ़ नहीं कर लेती तो पूंजीपतियों के प्रतिरोध का दमन करने में और प्राप्त सफलताओं को संगठित रूप देकर समाजवाद की अंतिम विजय की ओर कदम बढ़ाने में भी वह समर्थ नहीं हो सकती.

लेनिन ने कहा था कि "राजसत्ता पर अधिकार करने का प्रश्न ही क्रांति का मूल प्रश्न है." किंतु क्या इसका अर्थ यह है कि शासन का अधिकार ग्रहण कर लेना या उसे बलपूर्वक छीन लेना ही पर्याप्त है? हरगिज नहीं. सच पूछिए तो अधिकार ग्रहण से केवल क्रांति का श्रीगणेश होता है. पूंजीपति वर्ग के किसी देश में पराजित हो जाने पर भी विभिन्न कारणों से वह देश के विजयी मजदूर वर्ग की अपेक्षा बहुत दिनों तक अधिक शक्तिशाली बना रहता है. अतएव सर्वहारा वर्ग के सामने मुख्य प्रश्न होता है शासन पर अपने अधिकार को बनाए रखने का, उसकी जड़ों को मजबूत करने का

और उसे हर तरह से अपराजेय बनाने का. इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए मजदूर वर्ग को कम से कम तीन कार्य करने पड़ते हैं जो क्रांति की सफलता के साथ ही उसके सामने उपस्थित होते हैं. ये कार्य निम्नलिखित हैं :

(1) क्रांति द्वारा पराजित और अधिकारच्युत पूंजीपतियों के विरोध को बलपूर्वक दबा कर पूंजी का शासन फिर से स्थापित करने के उनके समस्त प्रयत्नों को असफल बनाना.

(2) रचनात्मक और निर्माण संबंधी कार्यों को इस ढंग से संगठित करना जिससे सारा श्रमजीवी जनसमूह मजदूर वर्ग का सहयोगी बन जाए. उसे इन कार्यों को इस ढंग से पूरा करना चाहिए कि समाज में वर्गों का अंत हो जाए.

(3) विदेशी शत्रुओं और साम्राज्यवादियों से लोहा लेने के लिए क्रांति के समर्थकों को हथियारबंद करना और क्रांतिकारियों की सेना संगठित करना जिससे कि वे इस कार्य में पूर्ण रूप से सफल हो सकें.

इन्हीं कार्यों को सम्पन्न करने के लिए सर्वहारा अधिनायकत्व की आवश्यकता होती है.

लेनिन ने लिखा है, "पूंजीवाद से साम्यवाद में संक्रमण का काल एक संपूर्ण ऐतिहासिक युग है. जबतक इस युग का अंत नहीं होगा तबतक शोषकों में आशा बनी रहेगी कि उनका शासन लौट आ सकता है. अपनी इस *आशा* को फलीभूत करने के लिए वे पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की *कोशिश* भी करेंगे. शोषक समुदाय को यह अंदेशा नहीं रहता कि उसका तख्ता कभी भी उलट सकता है. न तो वह अपनी पराजय को संभव मानता है और न कभी इस प्रश्न पर विचार करने की ही आवश्यकता समझता है. इस कारण जब उसकी पहली बड़ी हार होगी तो क्रोध से उन्मत्त होकर वह दस गुनी घृणा और शक्ति के साथ अपने खोए हुए 'स्वर्ग' को फिर से प्राप्त करने के संघर्ष में जुट जाएगा, तथा सुख और विलास की गोद में पल रहे अपने परिजनों को 'आम नर-नारियों' के जरिए दुर्दशा और कंगाली की कोख में ढकेल दिए जाने अथवा 'आम' मजदूरों की तरह मेहनत करने की यातना से बचाने के लिए वह अपने प्राणों की भी बाजी लगा देगा. पूंजीवादी शोषकों के पीछे-पीछे निम्न पूंजीपतियों का जनसमूह भी मैदान में उतर आएगा. कई दशकों का ऐतिहासिक अनुभव यह बतलाता है कि हर देश के निम्नपूंजीपति कभी इधर लुढ़कते हैं तो कभी उधर; अगर एक दिन वे सर्वहारा का साथ देते हैं तो दूसरे ही दिन क्रांति की कठिनाइयों को देखकर भयभीत हो उठते हैं और मजदूरों की पहली ही छोटी मोटी वास्तविक या अवास्तविक हार से डर के मारे थर-थर कांपने लगते हैं और भय से होश हवास खोकर इधर-उधर भाग दौड़ करने लगते हैं" (लेनिन, **ग्रंथावली, खंड 8** पृ. 140-141.)

अपना राज्य फिर से स्थापित करने का पूंजीपतियों का यह प्रयत्न अकारण भी नहीं है. पदच्युत होने के बहुत दिनों बाद तक वे अपने विजेता सर्वहारा वर्ग

से अधिक शक्तिशाली बने रहते हैं. लेनिन ने लिखा है

"अगर किसी एक ही देश के शोषकों की पराजय होती है और साधारणतः होता भी ऐसा ही है, क्योंकि कई देशों में एक ही साथ क्रांति का होना एक दुर्लभ अपवाद है - तो पराजय के *बाद भी* शोषक वर्ग शोषित जनसमुदाय की अपेक्षा अधिक *शक्तिशाली* बने रहते हैं." (वही पृ. 140.)

पराजित और राजच्युत पूंजीपतियों की इस शक्ति का स्रोत क्या है?

उनकी शक्ति का पहला स्रोत है, "अंतर्राष्ट्रीय पूंजी की शक्ति, पूंजीपतियों के अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की दृढ़ता और मैत्री की शक्ति." (लेनिन, **वामपंथी कम्युनिज्म : एक बचकाना मर्ज, ग्रंथावली,** खंड 10, पृ. 60.)

दूसरा स्रोत यह है कि "क्रांति के बहुत दिनों बाद तक भी शोषकों के पास बहुतेरी व्यावहारिक सुविधाएं बनी रहती हैं. उनके पास पैसे रहते हैं (क्योंकि पैसे की महिमा को तुरंत ही नष्ट कर देना असंभव है), उनके पास चल सम्पत्ति होती है जिसकी मात्रा भी काफी अधिक रहती है. फिर अन्य लोगों के साथ उनके तरह तरह के संबंध रहते हैं. उनके पास संगठन और प्रबंध का अभ्यास, और प्रबंध संबंधी 'गुप्त' बातों का ज्ञान (जैसे व्यापार और उद्योग के क्षेत्रों के रीति-रिवाज, तौर-तरीकों तथा साधन-संभावनाओं का ज्ञान) होता है; उनके पास ऊंची शिक्षा होती है तथा बड़े-बड़े विशेषज्ञों के साथ (जो पूंजीपतियों के ही दृष्टिकोण से सोचते और उन्हीं जैसा जीवन बिताते हैं) उनका घनिष्ठ संबंध होता है; और सबसे बड़ी बात यह है कि उनके पास युद्ध कला का कहीं ज्यादा अनुभव तथा इसी तरह की कितनी ही अन्य चीजों का बल रहता है." (लेनिन, **सर्वहारा क्रांति और गद्दार काउत्स्की, ग्रंथावली,** खंड 7 पृ. 140.)

तीसरा स्रोत है, "*छोटे पैमाने पर उत्पादन-व्यवस्था* का बल और *पुरानी आदत* का बल, क्योंकि दुर्भाग्य से छोटे पैमाने का उत्पादन संसार में अभी भी बहुत दूर तक फैला हुआ है जो कि निरंतर (हर दिन, हर घड़ी) पूंजीवाद तथा पूंजीपतियों की स्वतःस्फूर्त ढंग से ही काफी बड़े पैमाने पर *सृष्टि करता रहता है*! ...." और भी, "वर्ग व्यवस्था के अंत का तात्पर्य केवल जमींदारों और पूंजीपतियों को ही खदेड़ देना नहीं है; यह काम तो हमने काफी आसानी से पूरा कर लिया है. वर्ग व्यवस्था के अंत का तात्पर्य *छोटे पैमाने पर माल पैदा करनेवालों से छुटकारा पाना* भी है. इन लोगों को *खदेड़ा नहीं जा सकता*; उन्हें कुचला भी नहीं जा सकता; हमें उनके साथ *सामंजस्य स्थापित करना चाहिए* और धीरे-धीरे और अत्यंत सावधानी के साथ कुछ दिनों में जाकर संगठन के द्वारा उनके दृष्टिकोण और स्वभाव को बदलना चाहिए (और इसमें हम सफल हो सकते हैं)." (लेनिन, **वामपंथी कम्युनिज्म : एक बचकाना मर्ज, ग्रंथावली,** खंड 10, पृ. 60, 53.)

इसलिए लेनिन ने लिखा है : "शासन पद से हटाए जाने के बाद पूंजीपति वर्ग

का विरोध दस गुना बढ़ जाता है. इसी शासनच्युत किंतु *अधिक शक्तिशाली*, पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध नए वर्ग के अत्यंत दृढ़ और निर्मम संघर्ष का ही नाम सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व है...."

और, "सर्वहारा अधिनायकत्व एक अनवरत संघर्ष है जो पुराने समाज की शक्तियों और परंपराओं के विरुद्ध शांतिपूर्ण और अशांतिपूर्ण, हिंसात्मक और अहिंसात्मक तथा सैनिक और आर्थिक ढंग से एवं शिक्षा और शासन की व्यवस्थाओं द्वारा निरंतर चलाया जाता है." (लेनिन, **ग्रंथावली**, खंड 10, पृ. 60, 84.)

यह प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है कि ये कार्य कुछ वर्षों की एक छोटी अवधि में संपन्न नहीं किए जा सकते. अतएव सर्वहारा अधिनायकत्व का काल, पूंजीवाद से साम्यवाद में संक्रमण का काल 'अति क्रांतिकारी' कार्यों और कानूनों के प्रचंड तेज से क्षण भर के लिए सबको चकित करके विलीन हो जाने वाली कोई चीज नहीं है. वह एक संपूर्ण ऐतिहासिक युग है जो संगठन और आर्थिक निर्माण के सतत प्रयत्नों से तथा जय और पराजय तथा आगे बढ़ने और पीछे हटने के अनुभवों से भरा रहता है. समाजवाद की संपूर्ण विजय के लिए आवश्यक आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियां उत्पन्न करने के लिए ही इस ऐतिहासिक युग की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि यह युग सर्वहारा वर्ग को इस बात का भी मौका देता है कि पहले तो वह स्वयं शिक्षित होकर देश का शासन करने की क्षमता ग्रहण करे और दूसरे, निम्नपूंजीवादी स्तर के लोगों के दृष्टिकोण और विचारों को इस ढंग से बदल दे कि समाजवादी उत्पादन का संगठन पूरी तरह से सुनिश्चित हो जाए.

मजदूरों को संबोधित करते हुए मार्क्स ने कहा था : "आपको पंद्रह, बीस या पचास साल तक गृहयुद्ध और अंतर्राष्ट्रीय संघर्षों के बीच से गुजरना पड़ेगा जिससे कि न केवल आप वर्तमान परिस्थितियों को बदल सकें बल्कि अपने आपको भी बदलकर शासन सत्ता का भार संभालने के योग्य बन सकें." (मार्क्स-एंगेल्स, **कोलोन कम्युनिस्ट मुकदमे पर से पर्दा उठा, ग्रंथावली**, खंड 8, पृ. 506)

मार्क्स के इस विचार को और भी विकसित करते हुए लेनिन ने लिखा है : "सर्वहारा अधिनायकत्व के काल में 'करोड़ों किसानों और छोटी जायदाद वालों तथा लाखों किरानियों, अफसरों और पूंजीवादी बुद्धिजीवियों' को पूंजीवादी आदतों और परंपराओं के चंगुल से छुड़ाकर 'सर्वहारा वर्ग के राज्य और सर्वहारा नेतृत्व' की अधीनता स्वीकार करने के लिए पुनर्शिक्षित करना आवश्यक होगा.... ठीक उसी तरह यह भी आवश्यक होगा कि 'सर्वहारा अधिनायकत्व की छत्रछाया में लंबे और कठिन संघर्षों के दौरान मजदूरों के दृष्टिकोण को भी बदला जाए. याद रखना चाहिए कि मजदूरों के निम्नपूंजीवादी विश्वासों और अंधविश्वासों को एकाएक किसी चमत्कार या किसी देवता के वरदान से, मात्र किसी नारे, प्रस्ताव अथवा सरकारी आज्ञापत्र के प्रताप से नहीं बदला जा सकता. आम जनता की निम्नपूंजीवादी मनोवृत्तियों के विरुद्ध

दीर्घकाल तक घोर जनसंघर्ष चलाकर ही मजदूरों के इस पुराने दृष्टिकोण को बदला जा सकता है." (लेनिन, **वामपंथी कम्युनिज्म : एक बचकाना मर्ज, ग्रंथावली**, खंड 10, पृ. 156, 157.)

सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व पूंजीपति वर्ग पर सर्वहारा का प्रभुत्व स्थापित करने का साधन है

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व केवल सरकारी अफसरों या "मंत्रिमंडल" आदि का परिवर्तन नहीं है जिससे कि पुरानी आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था पर किसी तरह की आंच नहीं आती. सभी देशों के अवसरवादी और संशोधक सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व से भूत की तरह भय खाते हैं और घबराहट के मारे सर्वहारा अधिनायकत्व के स्थान पर "सत्ता पर विजय प्राप्त करने" की धारणा को बिठाना चाहते हैं. अपनी इस "विजय" का तात्पर्य प्रायः वे "मंत्रिमंडल" का परिवर्तन बतलाते हैं - ऐसा परिवर्तन जिससे कि शीदेमान और नोस्के या मैकडानाल्ड और हेंडरसन जैसे अवसरवादी लोगों का मंत्रिमंडल स्थापित हो जाए. कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे या दूसरे किसी तरह से होने वाले मंत्रिमंडल के परिवर्तनों में और सर्वहारा द्वारा सत्ता पर सचमुच विजय पाने में, यानी सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना होने में, कोई समानता नहीं है. पुरानी पूंजीवादी सत्ता को अक्षुण्ण रखते हुए यदि मैकडानाल्ड और शीदेमान जैसे लोगों का शासन स्थापित भी हो जाए तो इन लोगों की सरकारें पूंजीपतियों के हाथ की कठपुतली ही बनी रहेंगी. वास्तव में ऐसी सरकारें साम्राज्यवाद के कोढ़ को ढंके रखने का काम करेंगी और शोषित पीड़ित जनता के क्रांतिकारी आंदोलन के विरुद्ध पूंजीपतियों का हथियार बन जाएंगी. जनता को खुलकर चूसना और सताना जब पूंजीपतियों के लिए कठिन, असुविधाजनक और अलाभकर बन जाता है उस समय उन्हें ऐसी शिखंडी सरकारों की आवश्यकता होती है. यह सही है कि इस तरह के मंत्रिमंडलों की स्थापना "पूंजीवाद के" गहरे संकट की ही सूचना देती है; तो भी उनका वास्तविक स्वरूप पूंजीवादी ही रहता है जिसको एक नए भेष में जनता के सामने पेश किया जाता है. मैकडानाल्ड या शीदेमान की सरकार और सत्ता पर सर्वहारा वर्ग के आधिपत्य में उतना ही अंतर है जितना कि जमीन और आसमान में. सर्वहारा अधिनायकत्व केवल सरकार का परिवर्तन नहीं है. यह एक नया राज्य है जिसके केंद्रीय और स्थानीय शासन की शक्ति नई संस्थाओं के हाथों में होती है. वह सर्वहारा वर्ग का राज्य है जो पुराने पूंजीवादी राज्य के ध्वंस से उत्पन्न हुआ है.

सर्वहारा अधिनायकत्व की इमारत पूंजीवादी व्यवस्था की नींव पर नहीं खड़ी की जाती. उसकी नींव पूंजीपतियों को हराने के बाद ही पड़ती है और पूंजीवादी व्यवस्था

के ध्वंस के बीच, पूंजीपतियों और जमींदारों के उन्मूलन के क्रम में, उत्पादन के प्रधान साधनों और उपादानों के समाजीकरण के क्रम में, सर्वहारा क्रांति के घोर उथल पुथल के क्रम में वह ठोस आकार धारण करती है. सर्वहारा अधिनायकत्व एक क्रांतिकारी शक्ति है जिसका आधार पूंजीपतियों के विरुद्ध बल प्रयोग है.

अपने वर्ग शत्रुओं के प्रतिरोध को कुचलने के लिए प्रत्येक शासक वर्ग राजसत्ता का एक शस्त्र के रूप में प्रयोग करता है. *इस दृष्टि से* सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व अन्य किसी वर्ग के अधिनायकत्व से मूलतः भिन्न नहीं है क्योंकि पूंजीपतियों के विरोध को दबाने के लिए वह भी सर्वहारा वर्ग का एक शस्त्र है. लेकिन इन दो तरह के अधिनायकत्वों में *एक महत्त्वपूर्ण* भेद भी है. वह यह कि आज तक के सभी वर्ग राज्य ऐसी तानाशाहियां रही हैं जो अल्पसंख्यक शोषकों द्वारा बहुसंख्यक शोषितों पर लादे गए हैं. इसके विपरीत सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व ऐसी तानाशाही है जो बहुसंख्यक शोषितों द्वारा अल्पसंख्यक शोषकों पर लादा जाता है.

संक्षेप में, *सर्वहारा अधिनायकत्व पूंजीपति वर्ग के ऊपर सर्वहारा वर्ग का राज्य है. उसका आधार बल है; उसकी शक्ति कानूनी सीमाओं से स्वतंत्र है. वह ऐसा शासन है जिसे शोषित और श्रमजीवी जनसमूह की सहानुभूति और उसका समर्थन प्राप्त है.* (लेनिन, **राज्य और क्रांति.**)

इस कथन से दो प्रधान निष्कर्ष निकलते हैं :

पहला : सर्वहारा अधिनायकत्व "पूर्ण रूप से" जनवादी अर्थात धनी और गरीब *सबके लिए* एक समान जनवादी नहीं हो सकता. लेनिन के कथनानुसार वह "ऐसा राज्य है जो एक *नए ढंग का* (सर्वहारा और साधारणतया संपत्तिविहीन लोगों के लिए तो) जनवादी है और एक *नए ढंग का* (पूंजीपतियों के *विरुद्ध*) तानाशाही है." (इटालिक्स मेरे द्वारा – स्तालिन) (लेनिन, **राज्य और क्रांति, ग्रंथावली,** खंड 7, पृ. 34.) शोषकों और शोषितों के बीच समानता नहीं हो सकती, यह एक निर्मम सत्य है. और इसी सत्य पर परदा डालने के लिए कात्स्की और उसके चेले-चांटी सार्वभौमिक समानता तथा "शुद्ध" और "निर्दोष" जनवाद की बातें बघारते एवं नाना प्रकार के पूंजीवादी पाखंड रचते हैं. "शुद्ध" जनवाद का सिद्धांत मजदूर वर्ग के ऊपरी स्तर के उन बाबुओं का सिद्धांत है जिन्हें साम्राज्यवादी डाकुओं ने घूस देकर अपनी ओर मिला लिया है. इस सिद्धांत का प्रयोजन है पूंजीवाद के कोढ़ को ढंकना और साम्राज्यवाद पर नई पालिश चढ़ाना जिससे शोषित जनता के विरुद्ध संघर्ष में उसे सहायता मिल सके. पूंजीवादी राज्य में शोषितों के लिए न तो कोई वास्तविक 'स्वाधीनता' है और न हो ही सकती है; क्योंकि "स्वाधीनता" के वास्तविक उपयोग के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक साधनों - छापेखाने, कागज, मकान आदि पर शोषकों का ही एकाधिकार है. पूंजीवादी राज्य में शोषित जनता न तो देश के शासन में वास्तविक रूप से भाग ले पाती है, और न ले ही सकती है, क्योंकि पूंजीवादी

झंडे के नीचे स्थापित "अत्यंत" जनवादी सरकारों की स्थापना भी जनता द्वारा नहीं बल्कि रौथ्सचाइल्ड और स्टीन्स तथा रॉकफेलर और मॉर्गन जैसे धन्नासेठों द्वारा की जाती है. पूंजीवादी झंडे के नीचे स्थापित जनतंत्र *पूंजीवादी* जनतंत्र है; वह अल्पसंख्यक शोषकों का जनतंत्र है जो बहुसंख्यक शोषितों के विरुद्ध और उनके अधिकारों का गला घोंट करके स्थापित किया गया है. सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व में ही शोषित जनता को वास्तविक स्वाधीनता मिल सकती है. तभी मजदूरों और किसानों का सत्ता में भाग लेना भी संभव हो सकता है. सर्वहारा अधिनायकत्व की छत्रछाया में स्थापित जनतंत्र *सर्वहारा* जनतंत्र है, बहुसंख्यक शोषितों का जनतंत्र है जिसकी स्थापना अल्पसंख्यक शोषकों के विरुद्ध और उनके अधिकारों को नियंत्रित करके की गई है.

दूसरा : सर्वहारा अधिनायकत्व का जन्म पूंजीवादी समाज और पूंजीवादी जनतंत्र के शांतिमय विकास के गर्भ से नहीं हो सकता. सर्वहारा अधिनायकत्व का उदय पूंजीवादी राज्य व्यवस्था और उसकी पुलिस, फौज और नौकरशाही की सारी पूंजीवादी श्रृंखला के ध्वंस के परिणाम के रूप में ही हो सकता है.

कम्युनिस्ट घोषणा पत्र की एक भूमिका में मार्क्स और एंगेल्स ने **फ्रांस में गृहयुद्ध** नामक पुस्तक से यह उद्धरण दिया है, "...मजदूर वर्ग राज्य की बनी-बनाई मशीनरी पर कब्जा करके ही उसका उपयोग अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नहीं कर सकता." **कुगेलमान के नाम** अपने एक **पत्र** में मार्क्स ने (1871 ई. में) लिखा था कि सर्वहारा क्रांति का उद्देश्य अब यह नहीं रहा कि "शासन की फौजी नौकरशाही व्यवस्था को एक हाथ से बदल कर दूसरे हाथ में दे दिया जाए, इसके विपरीत उसका उद्देश्य अब यह हो गया है कि इस शासन व्यवस्था का *ध्वंस* कर दिया जाए. यूरोपियन महादेश में किसी भी वास्तविक जनक्रांति की यह पहली शर्त है."

मार्क्स द्वारा "यूरोपियन महादेश" के इस उल्लेख को लेकर सभी देशों के अवसरवादियों और मेंशेविकों ने गला फाड़-फाड़ कर प्रचार किया है कि मार्क्स इस संभावना को स्वीकार करते थे कि यूरोपियन महादेश के बाहर कम से-कम कुछ खास देशों में (जैसे इंगलैंड व संयुक्त राज्य अमेरिका में) पूंजीवादी जनतंत्र शांतिमय विकास द्वारा सर्वहारा जनतंत्र का रूप धारण कर लेगा. यह सच है कि मार्क्स ने इस संभावना को स्वीकार किया था और पिछली शताब्दी के आठवें दशक में इंगलैंड और संयुक्त राज्य अमेरिका के संबंध में ऐसा सोचने के लिए उनके पास पर्याप्त कारण भी थे. उस समय तक इन देशों में एकाधिकारी पूंजीवाद और साम्राज्यवाद की स्थापना न हो पाई थी और न वहां पर अब तक किसी विकसित फौजी या नौकरशाही व्यवस्था की ही जड़ जम सकी थी. इसका कारण था उन देशों के विकास की विचित्रता. किंतु यह विकसित साम्राज्यवाद के उदय के पहले की बात है. तीस-चालीस साल में इन देशों की अवस्था में भारी परिवर्तन हो गया. इस बीच साम्राज्यवाद विकसित होकर सारे संसार में छा गया. इंगलैंड और संयुक्त राज्य अमेरिका के शांतिमय विकास की

विशेषताओं का लोप हो गया और फौजशाही तथा नौकरशाही की जड़ें वहां भी जम गईं. तीस चालीस वर्षों के इस भारी परिवर्तन के बाद इंगलैंड और संयुक्त राज्य अमेरिका का यूरोपियन महादेश से इस अर्थ में भिन्न मानना सरासर गलत था.

लेनिन ने लिखा है, "आज 1917 ई. में, प्रथम साम्राज्यवादी युद्ध के युग में मार्क्स द्वारा दर्शाया हुआ यह फर्क अब नहीं रह गया है. इंगलैंड और संयुक्त राज्य अमेरिका पहले सारे संसार में एंग्लो-सैक्सन 'जनवाद' के श्रेष्ठ और आखिरी प्रतिनिधि माने जाते थे, क्योंकि अभी तक इन देशों में फौजीशाही और नौकरशाही का अभाव था. परंतु अब वे भी यूरोप की उन्हीं कुत्सित और खूनी संस्थाओं को पूर्ण रूप से अपना चुके हैं जो हर चीज का गला घोंटकर ही पनपती हैं. आज इंगलैंड और संयुक्त राज्य अमेरिका में भी 'हर वास्तविक जनक्रांति की प्राथमिक शर्त है' 'बने-बनाए शासनतंत्र का' पूरी तरह ध्वंस कर दिया जाना, *उसे नष्ट कर दिया जाना* क्योंकि 1914-17 के बीच इन देशों की सरकारें भी आम 'यूरोपियन' सरकारों की तरह साम्राज्यवादी पूर्णता को प्राप्त कर चुकी हैं". (लेनिन, वही, **ग्रंथावली,** खंड 7 पृ. 37.)

दूसरे शब्दों में, साम्राज्यवादी देशों के क्रांतिकारी आंदोलन का यह अनिवार्य नियम है कि सर्वहारा क्रांति बलपूर्वक पूरी की जाए और इस क्रांति की सर्वप्रमुख आवश्यकता है कि पूंजीवादी शासनतंत्र का ध्वंस कर दिया जाए.

यह ठीक है कि सुदूर भविष्य में यदि मुख्य मुख्य पूंजीवादी देशों में सर्वहारा वर्ग की विजय हो जाए और यदि समाजवादी राज्य के चारों ओर पूंजीवादी घेरे के बजाए कुछ पूंजीवादी देशों के विरुद्ध चारों तरफ से समाजवादी घेरा पड़ जाए, तो संभव है कि ये देश विकास का "शांतिमय" रास्ता अपना लें. संभव है कि उस समय अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति को "प्रतिकूल" देखकर इन देशों के पूंजीपति सर्वहारा को 'स्वेच्छापूर्वक' महत्वपूर्ण सुविधाएं दे देना ही श्रेयस्कर समझें. किंतु यह अनुमान किसी दूर और संभाव्य भविष्य पर ही लागू होता है. जहां तक निकट भविष्य का प्रश्न है, इस अनुमान के लिए कोई जगह नहीं है.

अतएव लेनिन का यह कहना सही है कि

"पूंजीवादी शासनतंत्र को बलपूर्वक नष्ट करके उसकी जगह *एक नए राज्य* की स्थापना किए बिना सर्वहारा क्रांति असंभव है." (लेनिन, **सर्वहारा क्रांति और गद्दार काउत्स्की, ग्रंथावली,** खंड 7, पृ. 124.)

सोवियत शासन सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का राजनीतिक स्वरूप है

स्पष्ट है कि सर्वहारा अधिनायकत्व की विजय का अर्थ है पूंजीपतियों का दमन, उनके शासनतंत्र का नाश और पूंजीवादी जनतंत्र के स्थान पर सर्वहारा जनतंत्र की स्थापना. लेकिन वह कौन सा संगठन है जिसके सहारे यह भारी काम पूरा किया जा सकता है? निस्संदेह पूंजीवादी संसदों के ढंग पर बनाए गए पुराने ढंग के सर्वहारा

संगठन इस काम के लिए पर्याप्त न होंगे. तब सर्वहारा वर्ग के वे कौन से नए संगठन हैं, जो पूंजीवादी शासनतंत्र के यमराज बन सकेंगे; जो न केवल उस शासनतंत्र को उखाड़ फेंकने में, न केवल पूंजीवादी जनतंत्र की जगह सर्वहारा जनतंत्र की जड़ जमाने में ही समर्थ होंगे, बल्कि जो सर्वहारा वर्ग की राजसत्ता का सुदृढ़ आधारस्तंभ भी बन सकेंगे?

सर्वहारा वर्ग के इस नए संगठन का स्वरूप है सोवियत. संगठन के पुराने तरीकों की अपेक्षा सोवियतों की विशेष शक्ति का स्रोत क्या है?

पहले तो, सोवियत सर्वहारा वर्ग के सर्वव्यापी जनसंगठन हैं जो बिना किसी अपवाद के कुल मजदूरों को संगठन-सूत्र में बांधते हैं.

दूसरे, सोवियत ही वे *एकमात्र* संगठन हैं जिनमें सभी पीड़ित और शोषित, किसान और मजदूर, सैनिक और नाविक *सम्मिलित होते* हैं, जिनमें कि जनता का अग्रदल, अर्थात सर्वहारा वर्ग अत्यधिक सुविधा के साथ समस्त जन संघर्षों का राजनीतिक नेतृत्व करने में समर्थ होता है.

तीसरे, सोवियत जनता के क्रांतिकारी संघर्ष, राजनीतिक संग्राम और आम विद्रोह के सर्वाधिक सशक्त साधन हैं जो महाजनी पूंजी और उसके राजनीतिक उपग्रहों के सर्वव्यापी प्रभुत्व को चूर करने में पूर्णतः समर्थ होते हैं.

चौथे, सोवियतें जनता के सबसे *नजदीकी* संगठन हैं, अर्थात वे *सबसे अधिक जनवादी* और सबसे अधिक अधिकारपूर्ण जनसंगठन हैं. नए राज्य के निर्माण और उसके शासन के काम में जनता का भाग लेना वे अत्यंत सुगम बना देते हैं, और जनता की क्रांतिकारी शक्ति, स्वप्रेरणा और क्रियात्मक क्षमता को पूरी तरह जाग्रत करके उसे पुरातन व्यवस्था के ध्वंस और नवीन सर्वहारा व्यवस्था के निर्माण के संघर्ष में लगाने में समर्थ होते हैं.

सोवियत शासन का उदय स्थानीय सोवियतों को एक आम राज्य संगठन में मिलाने और संगठित करने से होता है. सोवियत राज्य शोषित पीड़ित जनसमुदाय के हिरावल सर्वहारा वर्ग का राज्य संगठन है. उसका निर्माण विभिन्न सोवियतों को एक सोवियत प्रजातंत्र के रूप में एकत्रित करने से होता है.

जिन वर्गों के लोग पहले जमींदारों और पूंजीपतियों के शोषण की चक्की में पिस रहे थे, उन्हीं वर्गों के अत्यधिक क्रांतिकारी जनसंगठन अब "राजसत्ता और शासनतंत्र के *स्थायी और एकमात्र* आधार बन जाते हैं" और अत्यंत जनतांत्रिक पूंजीवादी प्रजातंत्रों में भी जिस जनसमुदाय को, कानूनी तौर से समानता का अधिकार होने पर भी, राजनीतिक जीवन में भाग लेने और जनवादी स्वाधीनता और अधिकारों का उपभोग करने से हजारों प्रपंचों और तिकड़मों द्वारा रोक रखा गया था, अब उसी जनसमुदाय के लिए देश की जनवादी शासन व्यवस्था में *निर्णयात्मक रूप से* और *निरंतर* भाग लेने की परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है.' यही सोवियत राज्य का सारतत्व है. (लेनिन,

ग्रंथावली, खंड 7, पृ. 231.)

इस कारण सोवियत राज्य एक नए ढंग का शासनतंत्र है जो सिद्धांतत: संसदीय ढंग के पुराने पूंजीवादी जनवादी शासनतंत्रों से बिल्कुल भिन्न है. वह एक नए तरह का राज्य है जिसका उद्देश्य श्रमजीवी जनता का शोषण और उत्पीड़न न होकर उसे सभी तरह के शोषण और उत्पीड़न से मुक्त करना और इस प्रकार सर्वहारा अधिनायकत्व के उद्देश्यों को पूरा करना है.

लेनिन ने बिल्कुल ठीक कहा है कि सोवियत शक्ति के उदय के साथ, "पूंजीवादी जनवादी संसदवाद का युग शेष हो गया और सर्वहारा अधिनायकत्व के युग के आरम्भ के साथ विश्व इतिहास में अब एक नए अध्याय का सूत्रपात हुआ है."

सोवियत राज्य के प्रधान लक्षण क्या हैं?

सोवियत शक्ति का स्वरूप स्पष्टत: अत्यंत जनसामूदायिक है. वर्ग समाज के अन्दर जितने तरह के राज्य-संगठन हो सकते हैं, सोवियत राज्य उनमें सबसे अधिक जनवादी है, क्योंकि शोषकों के विरुद्ध शोषित श्रमजीवियों के संघर्ष में वह मजदूरों और पीड़ित किसानों के सहयोग और उनकी एकता को व्यक्त करता है. इस एकता और सहयोग पर आधारित होने के कारण वह अल्पमत पर बहुमत के प्रभुत्व को भी प्रकट करता है. सोवियत राज बहुमत का राज्य है; बहुमत के अधिनायकत्व का वह मूर्तिमान स्वरूप है.

वर्ग समाज के अंदर राज्य के जितने भी प्रकार के संगठन हो सकते हैं, सोवियत राज्य उनमें सबसे अधिक अंतर्राष्ट्रवादी है. वह हर तरह के जातीय शोषण का अंत कर देता है और विभिन्न जातियों की श्रमजीवी जनता के सहयोग और एकता पर आधारित है. इस प्रकार वह एक राज्य संघ के भीतर विभिन्न जनसमुदायों के एकीकरण का मार्ग प्रशस्त करता है.

अत्यंत संगठित और श्रेणी सजग सर्वहारा वर्ग ही सोवियत का प्रधान आधार है. अपने संगठन की इस विशेषता के कारण सोवियत राज्य शोषित-पीड़ित जनता का नेतृत्व करने में जनता के अग्रदल अर्थात सर्वहारा वर्ग की भारी सहायता करता है. लेनिन ने कहा है :

"सभी क्रांतियों, शोषित वर्गों के सभी आंदोलनों और संसारव्यापी समाजवादी आंदोलन के अनुभवों से हमें यह सीख मिलती है कि शोषित श्रमजीवी जनता के पिछड़े और बिखरे हुए स्तरों को एकताबद्ध करने में और उनका नेतृत्व करने में केवल सर्वहारा वर्ग ही समर्थ हो सकता है." (लेनिन, ग्रंथावली, खंड 7, पृ. 232.) इस अनुभव से प्राप्त शिक्षा को व्यावहारिक क्षेत्र में लागू करने में सोवियत राज्य की बनावट विशेष रूप से सहायक होती है.

राज्य की एक ही संस्था के हाथ में कानून बनाने और शासन करने का अधिकार देकर और प्रादेशिक क्षेत्रों की जगह मिलों और कारखानों को निर्वाचन का आधार बनाकर, सोवियत राज्य मजदूरों का और सभी श्रमजीवी जनसमुदायों का शासनतंत्र से

सीधा संबंध जोड़ देता है और उन्हें शासन में हाथ बंटाने की शिक्षा देता है.

पूंजीवादी व्यवस्था में सेना जनता के दमन का एक अस्त्र बना ली गई है. केवल सोवियत राज्य में सामर्थ्य है कि वह सैन्यशक्ति पर से पूंजीवादी प्रभुत्व को मिटा दे और सेना को जनता की मुक्ति का अस्त्र बना दे अर्थात देशी और विदेशी दोनों तरह के पूंजीपतियों के शिकंजे से उसे छुटकारा दिला दे.

"सोवियत ढंग पर संगठित राज्य में ही यह सामर्थ्य है कि वह पुरानी अर्थात पूंजीपतियों की नौकरशाही शासन व्यवस्था को अविलंब कुचलकर उसे सदा के लिए नष्ट कर दे." (वही)

केवल सोवियत राज्य में यह सामर्थ्य है कि शोषितों और श्रमजीवियों के जनसंगठनों को शासनतन्त्र में हाथ बंटाने के लिए आकर्षित करके राजसत्ता के लोप की परिस्थिति तैयार कर दे. राजसत्ता का लोप भविष्य के राज्यविहीन कम्युनिस्ट समाज के मूल उपकरणों में से एक है.

इस प्रकार सोवियत प्रजातंत्र राजसत्ता का वह स्वरूप है जो दीर्घ अनुसंधान के बाद सुलभ हुआ है और जिसकी छत्रछाया में सर्वहारा की आर्थिक मुक्ति एवं समाजवाद की संपूर्ण विजय प्राप्त की जा सकती है.

राजसत्ता का यह स्वरूप पेरिस कम्यून में बीज रूप में विद्यमान था; सोवियत सत्ता में वह विकसित होकर अपने चरमबिंदु तक पहुंच गया है.

इसलिए लेनिन ने कहा है :

"मजदूर, सैनिक और किसान प्रतिनिधियों के सोवियतों का प्रजातंत्र न केवल जनवादी संस्था का एक उच्चतर स्वरूप है बल्कि वह उसका एकमात्र (इटालिक्स मेरे द्वारा – स्तालिन) स्वरूप है जिसके द्वारा समाजवाद में अत्यधिक सुगमता के साथ संक्रमण हो सकता है." (लेनिन, **संविधान सभा के बारे में 'थिसिस'**, ग्रंथावली, खंड 6, पृ. 447.)

५. किसानों का सवाल

इस विषय पर मैं चार भागों में विचार करना चाहता हूं :
(i) किसानों के सवाल का मतलब क्या है?
(ii) पूंजीवादी-जनवादी क्रांति में किसानों की क्या भूमिका होती है?
(iii) सर्वहारा क्रांति में किसानों की क्या भूमिका होती है?
(iv) सोवियत राज्य की स्थापना के बाद किसानों की क्या भूमिका होती है?

किसानों के सवाल का मतलब क्या है?

कुछ लोग सोचते हैं कि किसानों का सवाल ही लेनिनवाद का मूल विषय है; किसानों के सवाल और किसानों की भूमिका तथा उनके सापेक्षिक महत्व को ही लेकर लेनिनवाद का आरम्भ होता है. यह धारणा बिल्कुल निराधार है. जिस मूल प्रश्न को लेकर लेनिनवाद का आरम्भ होता है, वह किसानों का नहीं बल्कि सर्वहारा अधिनायकत्व का प्रश्न है. लेनिनवाद का प्रयोजन क्रांति की उन अवस्थाओं पर विचार करना है जिनमें सर्वहारा अधिनायकत्व की विजय हो सकती है और जिनके अंतर्गत उसे सुदृढ़ बनाया जा सकता है. सत्ता पर अधिकार पाने के लिए किए जाने वाले संघर्ष में किसान ही सर्वहारा के मुख्य सहायक हैं. अतएव किसानों का सवाल सर्वहारा वर्ग के सवाल का एक अंग है, वह लेनिनवाद का मुख्य नहीं बल्कि गौण सवाल है.

लेकिन सर्वहारा क्रांति के लिए किसानों का जो भारी महत्व है, वह उपरोक्त कथन से जरा भी कम नहीं होता. यह सर्वविदित है कि रूसी मार्क्सवादियों ने किसानों के सवाल का गंभीर अध्ययन तब आरम्भ किया जब (1905 में) पहली रूसी क्रांति का आरम्भ हो रहा था. उस समय जारशाही की जड़ें खोदकर उसके स्थान पर सर्वहारा वर्ग का प्रभुत्व स्थापित करने का प्रश्न पार्टी के सामने पूरे वेग के सथ आ खड़ा हुआ था और आने वाली पूंजीवादी क्रांति के लिए मजदूर वर्ग के सहायकों का प्रश्न सहसा महत्वपूर्ण बन गया था. यह भी सर्वविदित है कि रूस की सर्वहारा क्रांति के समय किसानों के सवाल का तात्कालिक महत्व और भी बढ़ गया. क्योंकि सर्वहारा अधिनायकत्व को स्थापित करने और बनाए रखने के लिए मजदूर वर्ग के सहायकों को ढूंढना अत्यावश्यक था और सर्वहारा क्रांति का वह मुख्य प्रश्न बन गया. ऐसा होना स्वाभाविक ही था. जो वर्ग राजसत्ता पर अधिकार करने की तैयारी कर रहा था और उस दिशा में कुछ कर भी चुका था, वह अवश्य ही इस प्रश्न की ओर से

उदासीन नहीं रह सकता था कि उसके वास्तविक सहायक कौन हो सकते हैं.

इस प्रकार किसानों का प्रश्न सर्वहारा अधिनायकत्व के सामान्य प्रश्न का ही एक अंग है और इस कारण लेनिनवाद की मूल समस्याओं में से एक है.

दूसरे इंटरनेशनल की पार्टियों ने इस सवाल के प्रति जिस उदासीनता और कभी-कभी विरोध की जिस भावना का परिचय दिया है, उसका कारण पश्चिमी देशों के विकास की विशेषताओं में नहीं है. उसका मुख्य कारण यह है कि ये पार्टियां सर्वहारा अधिनायकत्व में ही विश्वास नहीं करतीं; वे क्रांति से भय खाती हैं और राजसत्ता पर अधिकार करने के लिए मजदूर वर्ग का नेतृत्व करना नहीं चाहतीं. यह स्वाभाविक है कि जो लोग क्रांति से डरते हैं और सर्वहारा को राजसत्ता की ओर ले जाने की इच्छा नहीं रखते, उनकी सर्वहारा के सहायकों के प्रश्न में भी कोई दिलचस्पी नहीं होगी. उनके लिए इस प्रश्न का कोई महत्व नहीं होगा. यहां तक कि किसान समस्या का मजाक उड़ाना भी दूसरे इंटरनेशनल के सूरमाओं द्वारा सभ्यता और "सच्चे" मार्क्सवाद का लक्षण माना जाता है. सच पूछिए तो इस दृष्टिकोण में मार्क्सवाद के अणुमात्र का भी समावेश नहीं है. सर्वहारा क्रांति के पूर्वकाल में किसानों की महत्वपूर्ण समस्या के प्रति इस प्रकार की उदासीनता दिखलाना सर्वहारा अधिनायकत्व की धारणा का परित्याग कर देने तथा मार्क्सवाद से नाता तोड़ लेने के बराबर है.

हमारे सामने प्रश्न यह है : अपनी स्थिति की विशेषता के कारण किसान वर्ग में जो क्रांतिकारी संभावनाएं हैं वे क्या *समाप्त हो चुकी हैं* या उनसे अब भी सहायता मिल सकती है? और अगर वे समाप्त नहीं हुई हैं तो मजदूर क्रांति के लिए उनका *कहां तक उपयोग किया* जा सकता है? उसके लिए क्या आधार हैं? पश्चिम की पूंजीवादी क्रांतियों के समय किसान वर्ग ने पूंजीपतियों की कोतल शक्ति का काम किया था और आज भी वह उनकी कोतल शक्ति बना हुआ है. तो क्या इस बात की कोई उम्मीद है कि किसानों को, शोषित किसानों के बहुमत को, अब मजदूर वर्ग की कोतल शक्ति, मजदूर वर्ग का सहायक और मित्र बनाया जा सके?

लेनिनवाद इस प्रश्न के उत्तर में कहता है हां, है. किसानों के बड़े भाग की क्रांतिकारी क्षमता को लेनिनवाद स्वीकार करता है और सर्वहारा क्रांति के लिए उसके प्रयोग को संभव मानता है.

रूस की तीनों क्रांतियों का इतिहास लेनिनवाद की इस धारणा की पुष्टि करता है.

इससे यह व्यावहारिक निष्कर्ष निकलता है कि शोषण और दासता के विरुद्ध श्रमजीवी किसान समुदाय के संघर्ष में, दमन और दरिद्रता के विरुद्ध उसकी लड़ाई में, सर्वहारा वर्ग को किसानों का साथ देना चाहिए, दृढ़तापूर्वक और बिना विचलित हुए उनका साथ देना चाहिए. इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि सर्वहारा वर्ग को किसानों के *प्रत्येक* आंदोलन की सहायता करनी चाहिए. हमारा तात्पर्य किसानों के

उन आंदोलनों और संघर्षों की सहायता करने में है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सर्वहारा वर्ग के मुक्ति संघर्ष में सहायक होते हैं, जो किसी न किसी रूप में मजदूर क्रांति को बल पहुंचाते हैं और "किसान समुदाय को मजदूर वर्ग का सहायक और कौतल शक्ति बनाने में मदद देते हैं.

पूंजीवादी-जनवादी क्रांति में किसानों की क्या भूमिका होती है?

1905 की प्रथम रूसी क्रांति से 1917 की दूसरी क्रांति तक का समय पूंजीवादी-जनवादी क्रांति का युग है. इस युग की विशेषता है किसानों का उदारपंथी पूंजीपतियों के प्रभाव से मुक्त हो जाना, उनका वैधानिक जनवादियों (कैडेट्स) के *प्रभाव से निकलकर* सर्वहारा वर्ग तथा बोल्शेविक पार्टी के *समीप* आना. इस युग का इतिहास किसान जनता को अपनी ओर मिला लेने के लिए बोल्शेविकों (अर्थात मजदूर वर्ग) और कैडेटों (अर्थात उदारपंथी पूंजीपतियों) के परस्पर संघर्ष का इतिहास है. इस संघर्ष का निपटारा दूमा काल में जाकर हुआ जबकि चारों दूमाओं (रूसी लोकसभा) के अनुभव से किसानों की आंखें खुल गईं. उन्हें भलीभांति मालूम हो गया कि कैडेटों के हाथ में न तो उन्हें भूमि मिल सकती थी और न आजादी. उन्हें मालूम हो गया कि जार पूरी तरह जमींदारों के पक्ष में था और जमींदार भी जार का ही समर्थन करते थे. उन्हें यह भी मालूम हो गया कि शहरी मजदूरों की अर्थात सर्वहारा वर्ग की शक्ति का ही वे भरोसा कर सकते थे, साम्राज्यवादी युद्ध ने दूमा-काल के इन अनुभवों को स्पष्ट करने का काम किया. इस काल में किसान पूंजीपतियों से बिल्कुल अलग हो गए और उदारपंथी पूंजीपति भी जनता से पूरी तरह पृथक होकर अकेले रह गए. युद्ध के वर्षों ने किसानों को यह पूरी तरह दिखला दिया कि जार और उसके पूंजीवादी सहायकों से किसी तरह की शांति पाने की आशा व्यर्थ और धोखे से भरी हुई है.

पूंजीवादी जनवादी क्रांति के युग में किसानों और मजदूरों की मित्रता इसी प्रकार स्थापित हुई थी. जारशाही को उखाड़ फेंकने के सामान्य संघर्ष में मजदूर वर्ग का नेतृत्व इसी प्रकार स्थापित हुआ था. इस नेतृत्व का परिणाम फरवरी 1917 की क्रांति के रूप में प्रकट हुआ.

इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया आदि पश्चिमी देशों में पूंजीवादी क्रांति ने जैसा कि सब जानते हैं, इससे भिन्न मार्ग अपनाया था. अपनी दुर्बलता के कारण वहां का मजदूर वर्ग एक स्वतंत्र राजनीतिक शक्ति न बन सका था और बन भी नहीं सकता था. इसलिए उन देशों में क्रांति का नेतृत्व मजदूरों के बजाए पूंजीपतियों के हाथ में रहा. वहां पर किसानों को सामंती बंधनों से मुक्ति पूंजीपतियों की सहायता से मिली, मजदूरों की सहायता से नहीं; क्योंकि मजदूर अभी संख्या में कम और संगठन में कमजोर थे. इसलिए पुरानी व्यवस्था के विरुद्ध होने वाले संघर्ष में इन देशों के किसानों ने वहां के उदारपंथी पूंजीपतियों का साथ दिया. किसान पूंजीपतियों की

कौतल शक्ति थे. फलतः वहां क्रांति के बाद पूंजीपतियों की शक्ति कई गुना बढ़ गई.

इसके विपरीत रूस में पूंजीवादी क्रांति का बिल्कुल उल्टा परिणाम हुआ. क्रांति के कारण यहां पूंजीपतियों की राजनीतिक शक्ति बढ़ी नहीं बल्कि घट गई; किसान वर्ग उनके झंडे के नीचे संगठित होने और उनकी कौतल शक्ति बनने के बजाए उनके हाथ से पूरी तरह निकल गया. रूस की पूंजीवादी क्रांति ने उदारपंथी पूंजीपतियों को नहीं बल्कि मजदूरों को आगे बढ़ाया और करोड़ों किसानों को बटोरकर उनके झंडे के नीचे ला खड़ा किया.

यही कारण था कि रूस की पूंजीवादी क्रांति अपेक्षाकृत थोड़े समय में ही मजदूर क्रांति में बदल गई. रूसी क्रांति के इस परिवर्तन का बीज, एक क्रांति से दूसरी क्रांति में संक्रमण का बीज, उस क्रांति पर सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में ही छिपा हुआ था.

रूसी क्रांति की यह विशेषता पश्चिमी देशों की पूंजीवादी क्रांतियों में नहीं पाई जाती. इस विशेषता का क्या कारण है? इसकी उत्पत्ति कहां से हुई?

इसका प्रधान कारण यह है कि जब रूस में पूंजीवादी क्रांति हुई तो पश्चिमी देशों की अपेक्षा वहां का वर्ग संघर्ष उच्चतर अवस्था में पहुंच चुका था. उस समय तक रूस का सर्वहारा वर्ग एक स्वतंत्र राजनीतिक शक्ति बन गया था और उसकी क्रांतिकारी क्षमता से भयभीत होकर उदारपंथी पूंजीपतियों ने (विशेषकर 1905 के अनुभवों के बाद से) क्रांतिकारी भावनाओं को पूरी तरह त्याग दिया था और क्रांति तथा मजदूरों एवं किसानों के विरुद्ध जार तथा जमींदारों के साथ समझौता कर लिया था.

हमें रूस की पूंजीवादी क्रांति के विशिष्ट रूप को निर्धारित करने वाली निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए :

(1) क्रांति के पहले रूसी उद्योग धंधों का अभूतपूर्व रूप से केंद्रीकरण हुआ था. उदाहरणार्थ यह सर्वविदित है कि रूस के कुल मजदूरों में 54 प्रतिशत से भी अधिक मजदूर ऐसे कारखानों में काम करते थे जो 500 या उससे अधिक मजदूर लगाते थे; जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे औद्योगिक रूप से अग्रसर देश में भी इस तरह के कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की संख्या वहां के कुल मजदूरों के 33 प्रतिशत से अधिक नहीं थी. यही कारण था कि रूसी मजदूर वर्ग देश के राजनीतिक जीवन में एक विराट शक्ति बन गया था. रूस की बोल्शेविक पार्टी जैसी मजदूर वर्ग की क्रांतिकारी पार्टी के अस्तित्व को ध्यान में रखने के बाद इस बात को प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं रह जाती.

(2) कारखानों में मजदूरों का भयंकर शोषण होता था; ऊपर से जार की पुलिस और जल्लादों का शासन था जो सर्वथा असह्य बन गया था. इस बात का यह परिणाम होता था कि मजदूरों की प्रत्येक बड़ी हड़ताल एक महत्वपूर्ण

राजनीतिक संघर्ष बन जाती थी और मजदूर वर्ग की क्रांतिकारी दृढ़ता को और इस्पाती तथा क्रांतिकारी बनाने में मदद देती थी.

(3) रूस का पूंजीपति वर्ग राजनीतिक दृष्टि से बिल्कुल खोखला था और 1905 के बाद जार के आगे दुम हिलाने और क्रांति का खुल्लमखुल्ला विरोध करने में लगा हुआ था. इसका कारण केवल रूसी मजदूर वर्ग की क्रांतिकारी भावना नहीं थी जिससे डरकर इन पूंजीपतियों ने जारशाही की शरण ली थी. इसका कारण यह भी था कि रूसी पूंजीपतियों का कारोबार प्रत्यक्ष सरकारी ठेकों पर निर्भर था.

(4) सामंतवाद के अत्यंत कुत्सित और असहय अवशेष गांवों में अभी तक मौजूद थे; और जमींदारों को खुलकर मनमानी चलती थी. परिणामस्वरूप किसान क्रांति की ओर आ गए थे.

(5) जारशाही प्रत्येक जीवित चीज का गला घोंटती थी. जार के अत्याचारों के कारण जमींदारों और पूंजीपतियों के शोषण का बोझ और भी दुःसह बन गया था. इसका परिणाम यह हुआ कि किसानों और मजदूरों के अलग-अलग संघर्ष क्रांति के एक ही ज्वार में परिणत हो गए.

(6) साम्राज्यवादी युद्ध ने रूस के राजनीतिक जीवन की इन सारी असंगतियों को क्रांतिकारी संकट की एक ही गुत्थी में बांध दिया और क्रांतिकारी शक्तियों के लिए अनुपम अवसर उपस्थित कर दिया.

इन परिस्थितियों में किसान किस ओर जा सकते थे? जमींदारों की मनमानी, जारशाही के अत्याचार और सर्वभक्षी युद्ध के सत्यानाशी संकट से उबरने के लिए वे किससे सहायता मांग सकते थे? उदारपंथी पूंजीपतियों से? पर वे तो उनके शत्रु थे. चारों दुमाओं के अनुभव ने इसे अच्छी तरह सिद्ध कर दिया था. तो क्या सामाजिक क्रांतिकारियों से? अवश्य ही वे कैडेटों (उदारपंथी पूंजीपतियों) से "अच्छे" थे और उनका कार्यक्रम भी अधिक "अनुकूल" और लगभग किसानों के कार्यक्रम के ही समान था. पर ये सामाजिक क्रांतिकारी किसानों की क्या सहायता कर सकते थे? वे तो स्वयं किसानों का ही भरोसा करते थे. शहरों में उनका प्रभाव नहीं के बराबर था और दुश्मन की (जार की) शक्ति मुख्यतः शहरों में ही केंद्रित थी. तब वह नई शक्ति कौन थी जो बहादुरी के साथ शहर और गांव दोनों जगहों पर मोर्चा ले सकती थी; जो जार और जमींदारों से लोहा लेने के लिए सबके आगे-आगे चल सकती थी; और जो गुलामी, शोषण और युद्ध के संकट से किसानों को छुड़ाने और भूमि की उनकी मांग को पूरा करने में सहायक हो सकती थी? क्या रूस में कोई ऐसी शक्ति थी? हां थी; और वह शक्ति सर्वहारा वर्ग की थी. 1905 में ही रूस के सर्वहारा वर्ग ने अंत तक लड़ने की अपनी क्षमता और बल तथा अपनी बहादुरी और क्रांतिकारी भावना का परिचय दे दिया था.

सर्वहारा वर्ग जैसी अन्य कोई शक्ति नहीं थी और न कहीं पाई ही जा सकती थी.

यही कारण है कि जब रूसी किसान वर्ग कैडेटों की ओर से मुख मोड़कर सामाजिक क्रांतिकारियों की ओर झुका तो उसे स्पष्ट अनुभव होने लगा कि केवल मजदूर वर्ग जैसे क्रांति के नेता का ही नेतृत्व उसे स्वीकार करना चाहिए.

इन्हीं परिस्थितियों ने रूस की पूंजीवादी क्रांति के विशिष्ट स्वरूप को निर्धारित किया.

सर्वहारा क्रांति में किसानों की क्या भूमिका होती है?

1917 की फरवरी क्रांति से अक्टूबर क्रांति तक का समय सर्वहारा क्रांति का काल है. यह समय बहुत थोड़ा है, केवल आठ महीनों का, परंतु जनता के राजनीतिक जागरण और क्रांतिकारी शिक्षा के ख्याल से इन आठ महीनों की तुलना दशाब्दियों के मामूली वैधानिक विकास से की जा सकती है, क्योंकि ये आठ महीने *क्रांति* के आठ महीने थे इस काल में किसानों की क्रांतिकारी भावना का और भी विकास हुआ. सामाजिक क्रांतिकारियों के संबंध में किसानों के भ्रम मिट गए और वे उनके *मायाजाल से निकल आए*. सर्वहारा वर्ग को ही एक मात्र सुसंगत क्रांतिकारी शक्ति समझ कर और देश में क्रांति की स्थापना करने में केवल उन्हें ही समर्थ मानकर किसानों ने मजदूर वर्ग के झंडे के नीचे *एकत्र होने के लिए कदम बढ़ाया*. ये ही इस काल की मुख्य विशेषताएं हैं. इस काल का इतिहास किसानों को, किसान जनता के बड़े भाग को अपनी ओर मिला लेने के लिए सामाजिक क्रांतिकारियों (अर्थात निम्नपूंजीवादी जनवादियों) और बोल्शेविकों (अर्थात सर्वहारा जनवादियों) के परस्पर संघर्ष का इतिहास है. इस संघर्ष का निर्णय मिश्रित सरकार, अर्थात केरेंस्की सरकार के समय में हुआ जबकि सामाजिक क्रांतिकारियों और मेंशेविकों ने जमींदारों की भूमि को जब्त करने से इंकार कर दिया और वे युद्ध को जारी रखने के लिए जी-तोड़ प्रयत्न करने लगे; और जब कि मोर्चे पर जून का आक्रमण शुरू हुआ, सिपाहियों के लिए प्राणदंड की व्यवस्था की गई और कोर्निलोव ने बगावत का झंडा उठाया.

इसके पहले के काल में क्रांति की मूल समस्या थी जारशाही को उखाड़ फेंकना और जमींदारों की शक्ति का अंत करना. लेकिन अब फरवरी क्रांति के बाद के काल में, जब कि जार नहीं रह गया था और लम्बे युद्ध ने देश की आर्थिक ताकत खत्म कर दी थी और किसान बिल्कुल बर्बाद हो रहे थे, उस समय युद्ध का अंत ही क्रांति का मूल प्रश्न बन गया था. अब सबका ध्यान आंतरिक समस्याओं की ओर से हटकर युद्ध के मुख्य प्रश्न पर केंद्रित हो रहा था. युद्ध से थके हुए देश के कोने-कोने से, विशेष कर किसानों की ओर से बस एक ही पुकार उठ रही थी: "लड़ाई बंद करो" "देश को युद्ध के भंवर से निकालो".

लेकिन युद्ध से निकलने के लिए आवश्यक था कि अस्थाई सरकार का तख्ता

उलट दिया जाए, पूंजीपतियों के शासन का अंत कर दिया जाए और सामाजिक क्रांतिकारियों तथा मेंशेविकों की शक्ति और प्रभाव को नष्ट कर दिया जाए, ये ही लोग युद्ध को घसीटकर "अंतिम विजय" तक ले जाने के इच्छुक थे. पूंजीपतियों की सत्ता का नाश किए बिना युद्ध से उबरने का कोई व्यावहारिक मार्ग न था.

यह कार्य एक नई क्रांति, सर्वहारा क्रांति द्वारा संपन्न हुआ. इस क्रांति ने साम्राज्यवादी पूंजीपतियों के अंतिम गिरोह, उनके उग्रपंथी गिरोह को अर्थात सामाजिक क्रांतिकारियों और मेंशेविकों को, अधिकारच्युत कर दिया जिससे कि एक नए राज्य, मजदूर राज्य, सोवियत राज्य की स्थापना की जा सकी; और क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग की पार्टी को साम्राज्यवादी युद्ध के अंत के लिए तथा जनवादी शांति की स्थापना के लिए क्रांतिकारी संघर्ष करने वाली बोल्शेविक पार्टी के हाथ में शासन की बागडोर दी जा सकी. शांति की स्थापना और सोवियतों को राजसत्ता दिलाने हेतु चलने वाले मजदूरों के इस संघर्ष का अधिकांश किसानों ने समर्थन किया.

किसान वर्ग के छुटकारे का न दूसरा रास्ता था और न हो सकता था.

इस प्रकार केरेंस्की के शासनकाल के अपने प्रत्यक्ष अनुभव से किसानों को बहुत बड़ी शिक्षा मिली. उन्हें स्पष्ट हो गया कि जबतक सामाजिक क्रांतिकारियों और मेंशेविकों का शासन था तबतक देश का युद्ध के भंवर से निकलना असंभव था, तबतक किसानों को न तो भूमि मिल सकती थी और न आजादी. उन्हें मालूम हो गया कि सामाजिक-क्रांतिकारी और मेंशेविक केवल मीठी-मीठी बातें बनाकर और झूठे वादे करके कैडेटों (उदारपंथी पूंजीपतियों) से अपनी भिन्नता दिखलाते थे, किंतु वास्तव में सब एक ही साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण कर रहे थे. उन्हें अच्छी तरह मालूम हो गया कि देश को सही रास्ते पर ले जाने वाली एकमात्र शक्ति सोवियतों की थी. ज्यों-ज्यों लड़ाई की अवधि बढ़ती गई त्यों-त्यों किसानों पर उपरोक्त निष्कर्ष की सच्चाई प्रकट होती गई और वे शीघ्रता से क्रांति की ओर झुकने लगे. अंत में युद्ध ने करोड़ों किसानों और सिपाहियों को सर्वहारा क्रांति के झंडे के नीचे *बटोर दिया*. सामाजिक क्रांतिकारियों और मेंशेविकों का जनता से बिलगाव निर्विवाद रूप से पूरा हो गया. मिश्रित शासन काल के इन प्रत्यक्ष अनुभवों के बिना सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना संभव न हुई होती.

पूंजीवादी क्रांति का सर्वहारा क्रांति में संक्रमण होने में ये ही परिस्थितियां सहायक हुई थीं.

रूस में सर्वहारा अधिनायकत्व का उदय इसी प्रकार हुआ था.

सोवियत राज्य की स्थापना के बाद किसानों की क्या भूमिका होती है?

क्रांति के प्रथम काल का मुख्य उद्देश्य था जारशाही का नाश, और उनके दूसरे काल का अर्थात फरवरी क्रांति के बाद के काल का प्रधान लक्ष्य था पूंजीपतियों को

शासन पद से हटा करके देश को साम्राज्यवादी युद्ध की भंवर से निकालना. लेकिन गृहयुद्ध के अंत और सोवियत राज्य के संगठित हो जाने के बाद आर्थिक निर्माण की समस्याएं सर्वप्रमुख बन गईं. समाजवादी व्यवस्था की नींव डालने के लिए आर्थिक निर्माण की योजना किन तात्कालिक कार्यों को लेकर आगे बढ़ाई जा सकती थी, इसका निर्देश करते हुए लेनिन ने यह रास्ता बताया था कि राज्य के अधिकार में लाए गए उद्योग धंधों का विकास करो और उन्हें मजबूत बनाओ; इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राज्य द्वारा नियंत्रित व्यापार के द्वारा उद्योग धंधों का कृषि के साथ संबंध स्थापित करो; किसानों से संपूर्ण अतिरिक्त अन्न ले लेने के नियम का अंत करके अनाज के रूप में कर वसूलने की व्यवस्था करो ताकि आगे चलकर इस अनाज कर को धीरे धीरे घटा दिया जाए और कल कारखानों की चीजों और खेती-किसानी की पैदावार के बीच सीधे विनिमय की व्यवस्था स्थापित हो जाए; किसानों के विशाल जनसमूह को सहयोग समितियों में लाकर इन समितियों को विकसित करो और व्यापार को पुनर्जीवित करो.

कहा जाता है कि ये कार्य रूस जैसे एक कृषि प्रधान देश के बूते के बाहर हैं. कुछ आलोचक तो यहां तक कहते हैं कि यह सब कोरी कल्पना है और बिल्कुल असंभव है, क्योंकि किसान आखिर किसान हैं, वे छोटे पैमाने पर पैदा करने वाले लोग हैं. और इसलिए समाजवादी उत्पादन की नींव डालने में कोई सहायता नहीं दे सकते.

पर ये आलोचक भ्रम में हैं. वे इस संबंध की अत्यंत ही महत्वपूर्ण बातों पर ध्यान नहीं देते. आइए, इनमें से कुछ प्रधान बातों पर विचार करें.

पहले तो सोवियत संघ के किसानों की तुलना पश्चिमी देशों के किसानों से नहीं की जानी चाहिए. सोवियत संघ के किसान तीन क्रांतियों की पाठशाला में शिक्षा पा चुके हैं; सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में और उसके कंधे से कंधा भिड़ाकर वे जार और पूंजीपतियों के विरुद्ध संघर्ष कर चुके हैं; सर्वहारा क्रांति के जरिए भूमि और शांति पा लेने से वे सर्वहारा वर्ग की कातल शक्ति बन चुके हैं. ऐसे किसान अवश्य ही उन किसानों से भिन्न होंगे जो पूंजीवादी क्रांतियों के काल में उदारपंथी पूंजीपतियों के झंडे के नीचे लड़े, जिन्हें उन्हीं की सहयता से जमीन मिली और फलस्वरूप जो उन्हीं की कातल शक्ति बन गए. यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं कि सोवियत राज्य के किसान सर्वहारा वर्ग के साथ सहयोग और मैत्री का मूल्य समझते हैं. वे जानते हैं कि इसी सहयोग और मैत्री की बदौलत उन्हें स्वाधीनता मिली थी. तब यह भी सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं कि आर्थिक मामलों में सर्वहारा वर्ग के साथ सहयोग करने में भी सोवियत राज्य के किसान अत्यंत अनुकूल प्रमाणित होंगे.

एंगेल्स ने कहा था, "राजसत्ता पर अधिकार पाने का प्रश्न समाजवादी पार्टी के सम्मुख निकट भविष्य में ही आने वाला है." और "अधिकार पाने के लिए पार्टी को शहरों से गांवों की ओर जाना होगा और वहां अपनी जड़ें मजबूत करनी होंगी."

(एंगेल्स, **किसानों की समस्या**) एंगेल्स ने ये बातें पश्चिमी देशों के विकास को ही ध्यान में रखकर पिछली शताब्दी के अंतिम दशक में लिखी थीं. यह प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है कि तीन क्रांतियों के दौरान काम करके रूसी कम्यूनिस्टों ने देहातों में जितना प्रभाव और अपने लिए जितना सामर्थ्य पैदा कर लिया है उसकी पश्चिमी देशों के हमारे साथी कल्पना भी नहीं कर सकते. तब इस बात से कैसे इंकार किया जा सकता है कि यह कार्य रूस के मजदूरों और किसानों के बीच आर्थिक सहयोग की संगठन करने में निश्चित रूप से सहायक सिद्ध होगा?

आलोचकों का कहना है कि समाजवादी निर्माण के साथ छोटे किसानों का मेल कभी भी नहीं बैठ सकता. किंतु पश्चिमी देशों के छोटे किसानों के बारे में एंगेल्स ने कहा है, इस पर उन्हें गौर करना चाहिए. एंगेल्स ने लिखा है :

"हम .... निश्चित रूप से छोटे किसानों के पक्ष में हैं. हम हर तरह से उनके जीवन को सुखी बनाने की कोशिश करेंगे, और अगर वे सामूहिक खेती में सम्मिलित होने का निश्चय करें तो इस कार्य में हम उनकी भरपूर सहायता करेंगे. किंतु अगर उन्होंने ऐसा निश्चय न भी किया तो हम उन्हें स्वतंत्र रूप से खेती करने देंगे और इस प्रश्न पर अच्छी तरह सोच विचार करने का उन्हें पूरा अवसर देंगे. इसका कारण यह है कि हमारा विचार है कि अपनी खेती किसानी आप करने वाले छोटे किसानों को अपनी ओर मिला लेना न केवल संभव होगा, बल्कि पार्टी के लिए प्रत्यक्ष रूप से हितकर सिद्ध होगा. जितने ही अधिक किसानों को हम सर्वहारा वर्ग की कोटि में गिरने से बचा लेंगे और किसान रहते ही उन्हें अपनी ओर मिला लेंगे, उतनी ही सुविधा और शीघ्रता के साथ समाज का परिवर्तन हो सकेगा. जबतक पूंजीवादी उत्पादन का विकास सब जगह अपने चरम परिणाम पर न पहुंच जाए और जबतक अंतिम दस्तकार तथा अंतिम किसान बड़े पैमाने के पूंजीवादी उत्पादन के हवनकुंड में पड़कर स्वाहा न हो जाएं तबतक इस परिवर्तन को रोके रखना हमारे लिए हितकर नहीं हो सकता. इस दिशा में किसानों का हित साधन करने के लिए सार्वजनिक पैसा खर्च करके जो आर्थिक त्याग करना पड़ेगा, वह पूंजीवादी अर्थनीति के दृष्टिकोण से निरा अपव्यय मालूम होगा. किंतु वास्तव में वह खर्च बहुत ही लाभप्रद होगा. उसके कारण आगे चलकर सामाजिक पुनर्निर्माण के क्षेत्र में संभवतः दस गुनी रकम की बचत हो जाएगी. अतएव, इस मामले में हम किसानों के साथ काफी उदारता दिखला सकते हैं." (वही)

एंगेल्स ने ये बातें पश्चिमी देशों के किसानों को ही ध्यान में रखकर कही थीं. पर क्या यह स्पष्ट नहीं है कि जो कुछ एंगेल्स ने कहा था, उसे जितनी सुविधा और पूर्णता के साथ सर्वहारा अधिनायकत्व वाले देश में पूरा किया जा सकता है उतनी ही सुविधा से और कहीं नहीं हो सकता? क्या यह स्पष्ट नहीं है कि "अपनी खेती-किसानी आप करने वाले छोटे किसानों को अपनी ओर मिला लेना" और इसके

लिए आवश्यक "आर्थिक त्याग" करना तथा "किसानों के प्रति काफी उदारता दिखलाना" सोवियत रूस में ही पूरी तरह संभव हो सकता है? यह भी क्या स्पष्ट नहीं है कि किसानों के हित के लिए ये तथा और भी ऐसे ही काम रूस में पहले ही से किए जा रहे हैं? तब इस बात से कैसे इंकार किया जा सकता है कि सोवियत भूमि में आर्थिक निर्माण के काम को आगे बढ़ाने में यह परिस्थिति भी अवश्य ही सहायक होगी.

दूसरा, रूसी कृषि की तुलना पश्चिमी देशों की कृषि से नहीं की जानी चाहिए. उन देशों में कृषि का विकास सामूली पूंजीवादी ढंग से हो रहा है और किसानों में वर्ग भेद तीव्रता से बढ़ रहा है. एक तरफ तो बड़ी बड़ी रियासतें और पूंजीवादी ढंग के आधुनिक फार्म हैं. और दूसरी ओर किसान जनता गरीबी और कंगाली का शिकार होकर खेतमजदूरों की श्रेणी में पहुंचती जा रही है. इस कारण वहां के किसानों का छिन्न-भिन्न और ह्रासोन्मुख होना बिल्कुल स्वाभाविक है. किंतु रूस की अवस्था इससे बिल्कुल भिन्न है. यहां कृषि का विकास उस ढंग से नहीं हो सकता. यहां सोवियत शासन है, और उत्पादन के प्रधान अस्त्रों तथा साधनों का राष्ट्रीयकरण हो गया है, इसलिए यहां किसान जनता का जीवन इस तरह विच्छिन्न नहीं हो सकता. यहां कृषि का विकास दूसरे ही मार्ग से होना चाहिए. यहां छोटे और मंझोले किसानों को सहयोग समितियों में संगठित करना चाहिए और राज्य की ओर से कम सूद पर कर्ज देकर देहातों में बड़े पैमाने पर सहयोग समितियों का विकास करना चाहिए. सहकारिता आंदोलन पर अपने लेखों में लेनिन ने इस विकास का सही-सही निर्देश किया है. उन्होंने बताया है कि हमारे देश में कृषि का विकास अवश्य ही एक नए मार्ग से होगा. हमें किसान जनता के बड़े भाग को सहयोग समितियों के द्वारा समाजवादी निर्माण की ओर आकर्षित करना होगा और कृषि के क्षेत्र में भी धीरे-धीरे सामूहिकता के सिद्धांतों का समावेश करना होगा – पहले तो पैदावार की बिक्री के क्षेत्र में और फिर उसके उत्पादन के क्षेत्र में भी.

देहातों में कृषि सहयोग समितियों के कार्य से कुछ अत्यंत ही महत्वपूर्ण बातें प्रकट हुई हैं. यह सर्वविदित है कि सेल्सकोसोयुज (ग्रामीण सहयोग समितियों का केंद्रीय संगठन) के तत्वावधान में कृषि के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में नए-नए विशाल संगठन उत्पन्न हो गए हैं. पाट, आलू, मक्खन आदि चीजों से संबंध रखनेवाले इन संगठनों का भविष्य बहुत ही उज्जवल है. उदाहरण के लिए पाट की केंद्रीय सहयोग समिति को ले लीजिए. उसके अन्दर पाट उपजाने वाले किसानों के अनेक संगठन हैं. यह पाट समिति किसानों को बीज और खेती के औजार देती है, उनके उपजाए हुए कुल पाट को खरीद लेती है, उसे बाजार में ले जाकर बेचती है और लाभ में से किसानों को हिस्सा देती है. इस प्रकार सेल्सकोसोयुज के जरिए खेती-किसानी का संबंध राज्य के उद्योग धंधों के साथ स्थापित हो जाता है. उत्पादन संगठन के इस रूप को हम कौन सा नाम

दे? मेरे विचार में यह कृषि के क्षेत्र में बड़े पैमाने पर सरकारी समाजवादी उत्पादन की घरलू पद्धति है. सरकारी समाजवादी उत्पादन की घरलू पद्धति की बात करते समय मैं उसकी तुलना पूंजीवादी उत्पादन की घरलू पद्धति से करना चाहता हूं. उदाहरण के लिए कपड़ा उद्योग को ही लीजिए. पूंजीवादी पद्धति में कच्चा माल और औजार दोनों ही दस्तकार को पूंजीपति की ओर से मिलते थे और दस्तकार के श्रम की पूरी उपज पूंजीपति की हो जाती थी. इस प्रकार दस्तकार भी एक तरह का मजदूर था जो अपने घर में ही काम करता था. सेल्सकोमायुज का जो उदाहरण मैंने यहां पर दिया है वह भविष्य में कृषि के विकास की दिशा बतलाने वाली बहुत सी बातों में से एक है. कृषि के अन्य क्षेत्रों की ऐसी बातों का मैं यहां पर उल्लेख करना नहीं चाहता.

यह सिद्ध करना आवश्यक नहीं है कि किसानों का बहुत बड़ा भाग पूंजीवादी विकास के पुराने मार्ग को छोड़कर अर्थात एक ओर विशाल पूंजीवादी संपत्ति और दूसरी ओर कंगाली और मजूरी की दासता का पूंजीवादी मार्ग छोड़कर विकास के इस नए मार्ग पर अत्यंत उत्सुकता से अग्रसर होगा.

हमारी कृषि के विकास पथ का निर्देश करते हुए लेनिन ने लिखा है :

"बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के समस्त साधनों पर राज्य का अधिकार हो, सर्वहारा के हाथों में शासन की बागडोर हो, करोड़ों छोटे और अति छोटे किसानों के साथ सर्वहारा वर्ग की मैत्री हो और किसान वर्ग का नेतृत्व निश्चित रूप से सर्वहारा वर्ग के हाथों में हो. क्या सहयोग समितियों के आधार पर पूर्ण समाजवादी समाज के निर्माण के लिए इतनी चीजें पर्याप्त नहीं हैं? ठीक है कि इन सहयोग समितियों को हम पहले मुनाफे के लिए बनाए गए सौदागिरी के संगठन समझते थे और किन्हीं दृष्टियों से उन्हें आज भी वैसा ही मानने का हमें अधिकार है. परंतु नई आर्थिक नीति के काल में क्या इन्हीं सहयोग समितियों से समाजवादी समाज का निर्माण नहीं हो सकता? क्या उस निर्माण के लिए ये बातें पर्याप्त नहीं हो सकतीं? अवश्य इसे समाजवादी समाज का निर्माण नहीं कहा जा सकता, किंतु उस निर्माण के लिए जो कुछ आवश्यक और पर्याप्त है, वह यही है." (लेनिन, **सहयोग के बारे में, ग्रंथावली**, खंड 9, पृ. 403.)

आगे चलकर लेनिन ने सहयोग समितियों को आर्थिक तथा अन्य तरह से सहायता करने को "जनता के संगठन का एक नया सिद्धांत" और उन्हें सर्वहारा अधिनायकत्व की छत्रछाया में बनी एक नई "समाज व्यवस्था" बतलाते हुए लिखा है :

"एक निश्चित वर्ग की आर्थिक सहायता से ही प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था का जन्म होता है. जिन अरबों-खरबों रूबलों द्वारा "मुक्त" पूंजीवादी उत्पादन का मूल्य चुकाया गया है उनका उल्लेख करना आवश्यक नहीं है. अब हमें यह समझ लेना है और इसी समझ के अनुसार आचरण करना है कि जिस सामाजिक व्यवस्था को हमें

असाधारण रूप से सहायता करनी है, वह है सहयोग समितियों की व्यवस्था. यह सहायता वास्तविक होनी चाहिए. सहायता का अर्थ यह नहीं है कि सहकारिता पर आधारित किसी भी व्यापार की मदद की जाए. उसका अर्थ उस तरह के सहयोगी व्यापार की सहायता है जिसमें जनता का सचमुच बड़ा भाग वास्तविक रूप से हिस्सा लेता हो." (वही, पृ. 404)

इन बातों से क्या प्रमाणित होता है?

यह कि आलोचकों का विचार गलत है.

यह कि श्रमजीवी किसान जनसमूह को सर्वहारा वर्ग की कोतल सेना मानने की लेनिनवादी धारणा बिल्कुल सही है.

यह कि उद्योग धंधों का कृषि से संबंध जोड़ने के लिए, समाजवादी निर्माण को आगे बढ़ाने के लिए और सर्वहारा अधिनायकत्व को आवश्यक आधार प्रदान करने के लिए मनोधारी सर्वहारा वर्ग को किसान जनसमूह की विशाल सेना को साथ लेकर आगे बढ़ना चाहिए. ऐसा करके ही पूंजीवादी व्यवस्था को समाजवादी आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तित किया जा सकेगा. और यह पूरी तरह संभव भी है.

६. राष्ट्रीय प्रश्न

इस विषय से संबंधित मैं दो प्रमुख प्रश्नों पर विचार करना चाहता हूं :
(i) राष्ट्रीय सवाल का स्वरूप, और
(ii) उत्पीड़ित राष्ट्रों का स्वाधीनता आंदोलन और सर्वहारा क्रांति.

राष्ट्रीय सवाल का स्वरूप

पिछले बीस साल में राष्ट्रीय सवाल के स्वरूप में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं. दूसरे इंटरनेशनल के युग का राष्ट्रीय सवाल और लेनिनवाद के युग का राष्ट्रीय सवाल एक ही नहीं हैं. इन दोनों में भारी अंतर है. न केवल इनके उद्देश्य अलग-अलग हैं, बल्कि इनका आंतरिक स्वरूप भी एक दूसरे से भिन्न है.

पहले राष्ट्रीय सवाल को प्रायः कुछ ऐसे प्रश्नों तक ही सीमित रखा जाता था जिनका संबंध मुख्यतः "सुसंस्कृत" राष्ट्रीयताओं से होता था. दूसरे इंटरनेशनल के सूरमाओं की दिलचस्पी आइरिश, हंगेरियन, पोल, फिन, सर्ब तथा कई अन्य यूरोपियन राष्ट्रीयताओं की अधिकारहीनता और भाग्य निर्णय तक ही सीमित थी. एशिया और अफ्रीका की बीसियों राष्ट्रीयताओं के करोड़ों नर-नारी खूंखार और क्रूर राष्ट्रीय दमन की भीषण यंत्रणा से कराह रहे हैं, किंतु वे सब इन सूरमाओं के दृष्टिपथ से प्रायः बाहर ही रहते थे. दूसरे इंटरनेशनल के ये नेता काले और गोरे, "सभ्य" और "असभ्य" लोगों को एक ही स्तर पर रखने में हिचकिचाते रहे. इस संबंध में उन्होंने दो या तीन निरर्थक और मामूली से प्रस्ताव पास किए थे जिनमें उपनिवेशों को स्वाधीन कर देने के प्रश्न से मुंह चुराया गया था. इतना करके ही इन नेताओं ने अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ ली थी. अब हम कह सकते हैं कि राष्ट्रीय सवाल के प्रति इस दुरंगी और अधकचरी नीति का अंत हो चुका है. लेनिनवाद ने उसकी कलई खोल दी है; और कालों और गोरों, यूरोपियनों और एशियाइयों तथा साम्राज्यवाद के "सभ्य" और "असभ्य" दासों के बीच भेद मिटाकर उसने राष्ट्रीय सवाल का संबंध उपनिवेशों के सवाल से जोड़ दिया है. इस प्रकार राष्ट्रीय सवाल अब किसी राज्य विशेष का आंतरिक प्रश्न नहीं रह गया है. अब वह एक साधारण और अंतर्राष्ट्रीय प्रश्न बन गया है. उसने अब गुलाम देशों और उपनिवेशों की जनता को साम्राज्यवाद के चंगुल से छुड़ाने के विश्वव्यापी प्रश्न का रूप धारण कर लिया है.

पहले राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के सिद्धांत का भी प्रायः गलत अर्थ लगाया जाता था और बहुधा उसे स्वराज्य के अधिकार की धारणा तक ही सीमित कर दिया जाता था.

दूसरे इंटरनेशनल के कुछ नेताओं ने तो यह फतवा दे दिया था कि आत्मनिर्णय के अधिकार का तात्पर्य सांस्कृतिक स्वराज्य का अधिकार मात्र है अर्थात पीड़ित राष्ट्रों का अधिकार अपनी सांस्कृतिक संस्थाएं स्थापित करने तक ही सीमित है और सारी राजनीतिक शक्ति उन्हें शासक राष्ट्रों के ही हाथों में छोड़ देनी चाहिए. इसके फलस्वरूप आत्मनिर्णय की धारणा ही संकट में पड़ गई थी. राज्य विस्तार के विरुद्ध संघर्ष का एक अस्त्र होने के बदले वह धारणा राज्य सरकार को उचित ठहराने का एक साधन बन जा सकती थी. अब हम कह सकते हैं कि यह भ्रांति दूर कर दी गई है. लेनिनवाद ने आत्मनिर्णय की धारणा को और भी व्यापक बनाया और उसे विभिन्न राष्ट्रों को अपना स्वाधीन राज्य स्थापित करने के अधिकार का, गुलाम देशों और उपनिवेशों की उत्पीड़ित जनता को साम्राज्य से पूरी तरह संबंध विच्छेद कर लेने का अधिकार दिया. अब आत्मनिर्णय के अधिकार का तात्पर्य स्वराज्य का अधिकार बतलाकर राज्य विस्तार को उचित ठहराना संभव नहीं रह गया है. साम्राज्यवादी युद्धकाल में आत्मनिर्णय का अधिकार सामाजिक देशाहंकारियों के हाथ में जनता को धोखा देने का एक साधन बन गया था. किंतु अब इस सिद्धांत का स्वरूप पूरी तरह बदल गया है और वह हर तरह की साम्राज्यवादी आकांक्षाओं और युद्धवादी षडयंत्रों का पर्दाफाश करने और अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से जनता को राजनीतिक शिक्षा देने का एक अस्त्र बन गया है.

पहले उत्पीड़ित राष्ट्रों का प्रश्न एक महज कानूनी प्रश्न माना जाता था. दूसरे इंटरनेशनल की पार्टियां आए दिन "राष्ट्रीय समानता" और "राष्ट्रों की बराबरी" की अर्थगर्भित घोषणाएं प्रकाशित किया करती थीं. वे इस बात को छिपाने की कोशिश करती थीं कि साम्राज्यवादी व्यवस्था के अन्दर जहां राष्ट्रों का एक गुट (अल्पसंख्यक गुट) दूसरे गुट का शोषण करके जीता है, वहां "राष्ट्रीय समानता" की बातें धोखा शोषित राष्ट्रों का सिर्फ अपमान करना है. अब हम कह सकते हैं कि राष्ट्रीय सवाल के विषय में इस पूंजीवादी कानूनवादी दृष्टिकोण का अंत कर दिया गया है. लेनिनवाद ने राष्ट्रीय सवाल को लंबी-चौड़ी हवाई घोषणाओं के धरातल से उतार कर ठोस भूमि पर लाकर खड़ा कर दिया है. उसने यह स्पष्ट रूप से ऐलान कर दिया है कि सर्वहारा पार्टियां यदि उत्पीड़ित राष्ट्रों के स्वाधीनता संघर्ष का प्रत्यक्ष रूप से समर्थन नहीं करतीं तो "राष्ट्रों की समानता" की सारी घोषणाएं मिथ्या और निरर्थक हैं. इस प्रकार अब उत्पीड़ित राष्ट्रों का प्रश्न साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रों की मदद करने का, स्वतंत्र राज्य स्थापित करने के उनके संघर्ष में सहायता करने का और समस्त राष्ट्रों के बीच सच्ची समानता की स्थापना के लिए किए जाने वाले उनके प्रयत्नों को वास्तविक और निरंतर सहायता पहुंचाने का प्रश्न हो गया है.

पहले राष्ट्रीय सवाल पर सुधारवादी दृष्टिकोण से विचार किया जाता था. समझा जाता था कि राष्ट्रों का प्रश्न एक स्वतंत्र प्रश्न है जिसका पूंजी के शासन, साम्राज्य

के उन्मूलन और सर्वहारा क्रांति के प्रश्नों से कोई संबंध नहीं है. बिना तर्क के ही यह मान लिया जाता था कि यूरोप के सर्वहारा वर्ग की विजय के लिए उपनिवेशों के स्वाधीनता आंदोलनों से सीधा संबंध स्थापित करने की कोई आवश्यकता नहीं है. यह भी मान लिया जाता था कि राष्ट्रीय औपनिवेशिक समस्या का सर्वहारा क्रांति से कोई संबंध नहीं है; और साम्राज्यवाद के विरुद्ध क्रांतिकारी संघर्ष किए बिना ही उसका हल 'अपने आप' निकल आएगा. अब हम कह सकते हैं कि इस क्रांति-विरोधी दृष्टिकोण का पर्दाफाश हो चुका है. लेनिनवाद ने यह प्रमाणित कर दिया है और साम्राज्यवादी युद्ध तथा रूसी क्रांति ने इसकी पुष्टि कर दी है कि सर्वहारा क्रांति के सिलसिले में और उसके आधार पर ही राष्ट्रीय सवाल हल हो सकते हैं; और गुलाम देशों और उपनिवेशों में साम्राज्यवाद के विरुद्ध चलने वाल स्वाधीनता आंदोलन के साथ क्रांतिकारी मैत्री स्थापित करके ही पश्चिमी देशों में क्रांति की विजय का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है. राष्ट्रीय सवाल सर्वहारा क्रांति के मुख्य प्रश्न का ही एक अंग है; वह सर्वहारा अधिनायकत्व के आम सवाल का ही एक भाग है.

अतएव अब यह प्रश्न इस रूप में हमारे सामने आता है : क्या गुलाम देशों के क्रांतिकारी स्वाधीनता आंदोलनों की क्रांतिकारी संभावनाओं का *अंत हो चुका है* या वे आंदोलन अभी सजीव हैं? यदि वे अब भी सजीव हैं तो क्या उनका सर्वहारा क्रांति के लिए उपयोग किया जा सकता है? क्या इस तरह से उनका उपयोग कर सकने की आशा है? क्या इस बात की संभावना है कि गुलाम और औपनिवेशिक देशों को साम्राज्यवादी पूंजीपतियों के प्रभाव से निकालकर क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग के सहायकों और मित्रों में परिणत कर दिया जाए?

लेनिनवाद इन प्रश्नों के उत्तर में 'हां' कहता है. वह गुलाम देशों की स्वाधीनता के राष्ट्रीय आंदोलनों में अंतर्निहित क्रांतिकारी क्षमता को स्वीकार करता है और कहता है कि साझे शत्रु साम्राज्यवाद को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए इस अंतर्निहित क्षमता का अवश्य उपयोग किया जा सकता है. साम्राज्यवाद का विकासक्रम और साम्राज्यवादी युद्ध तथा रूसी क्रांति के अनुभव, सब लेनिनवाद के इन निष्कर्षों का पूरी तरह से समर्थन करते हैं.

अतएव उत्पीड़ित और परतंत्र राष्ट्रों की राष्ट्रीय स्वाधीनता के संघर्ष का दृढ़तापूर्वक और सक्रिय रूप से समर्थन करना सर्वहारा वर्ग के लिए नितांत आवश्यक है.

किंतु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि सर्वहारा वर्ग हर जगह और हर समय प्रत्येक राष्ट्रीय आंदोलन का उसके प्रत्येक रूप में समर्थन करे. सर्वहारा वर्ग को केवल उन राष्ट्रीय आंदोलनों का समर्थन करना है जो साम्राज्यवाद को पंगु बनाने और उसे उखाड़ फेंकने के उद्देश्य से चलाए जाते हैं, न कि उसे बल पहुंचाने और सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से. कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किन्हीं उत्पीड़ित देशों के राष्ट्रीय

आंदोलन वहां के सर्वहारा आंदोलन के **विकास पथ** का रोड़ा बन जाते हैं. ऐसे आंदोलनों के समर्थन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता. राष्ट्रों के अधिकारों का प्रश्न कोई अलग-अलग और स्वतंत्र प्रश्न नहीं है, बल्कि वह सर्वहारा क्रांति के मुख्य प्रश्न का ही एक अंग है. अतएव मुख्य प्रश्न के आगे उनका महत्व गौण है, और मुख्य प्रश्न के समाधान की दृष्टि से ही उनपर विचार किया जा सकता है. पिछली शताब्दी के पांचवें दशक में मार्क्स ने जहां पोल और हंगरियन लोगों के राष्ट्रीय आंदोलनों का समर्थन किया था वहां चेक और दक्षिणी स्लाव राष्ट्रों के आंदोलनों का विरोध भी किया था. मार्क्स ने ऐसा क्यों किया था? क्योंकि उस समय चेक और दक्षिणी स्लाव "प्रतिगामी राष्ट्र" थे; वे यूरोप में "रूसी विभीषणों" का काम करते थे, यूरोप में वे रूसी निरंकुशता के साधन थे. इसके विपरीत पोल और हंगरियन "क्रांतिकारी राष्ट्र" थे और निरंकुशता के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे. उस समय चेक और दक्षिणी स्लाव राष्ट्रों के स्वाधीनता आंदोलनों का समर्थन करने का अर्थ होता अप्रत्यक्ष रूप से जारशाही का समर्थन करना, जबकि जार यूरोप के क्रांतिकारी आंदोलन का सबसे भयंकर शत्रु था.

लेनिन ने लिखा है, "जनवादी अधिकारों से संबंधित विभिन्न मांगें, जिनमें आत्मनिर्णय की मांग भी सम्मिलित है, सर्वथा निरपेक्ष नहीं हैं. वे जनवाद के साधारण विश्वव्यापी आंदोलन (अब हमें कहना चाहिए समाजवाद के विश्वव्यापी आंदोलन) का ही एक छोटा अंग है. किन्हीं विशिष्ट अवस्थाओं में अंग का संपूर्ण से विरोध हो सकता है. अगर ऐसा हो तो अंग का त्याग कर देना चाहिए." (लेनिन, **आत्मनिर्णय के बारे में बहस का सारांश, ग्रंथावली**, खंड 19, पृ. 57-58.)

कुछ विशेष राष्ट्रीय आंदोलनों का ऐसा ही स्वरूप होता है. उनपर हम अगर किन्हीं निरपेक्ष नियमों के अनुसार और कुछ सूक्ष्म अधिकारों के दृष्टिकोण से विचार करने के बदले क्रांतिकारी आंदोलन के वास्तविक दृष्टिकोण से विचार करें तो हम समझ सकेंगे कि उनका स्वरूप कभी-कभी प्रतिगामी हो सकता है.

राष्ट्रीय आंदोलनों के क्रांतिकारी स्वरूप के बारे में भी साधारण तौर से यही बात कही जा सकती है. अधिकांश राष्ट्रीय आंदोलनों का स्वरूप निस्संदेह क्रांतिकारी होता है, लेकिन उसका क्रांतिकारी होना भी उतना ही सापेक्ष और विशिष्ट है जितना कि किन्हीं राष्ट्रीय आंदोलनों के स्वरूप का प्रतिगामी होना. साम्राज्यवादी उत्पीड़न की अवस्था में किसी राष्ट्रीय आंदोलन का क्रांतिकारी होना या न होना अनिवार्यतः इस बात पर नहीं निर्भर करता है कि उस आंदोलन में सर्वहारा भी शामिल हो, उसका क्रांतिकारी या प्रजातंत्रवादी कार्यक्रम हो, अथवा उस आंदोलन का जनवादी आधार हो. अफगानिस्तान के अमीर और उनके सहकारियों के विचार राजतंत्रवादी हैं, तो भी उस देश की स्वाधीनता के लिए जो संघर्ष वे कर रहे हैं वह वास्तविक रूप में क्रांतिकारी है, क्योंकि वह साम्राज्यवाद को निर्बल, अस्त-व्यस्त और जड़हीन बनाता है. इसके

विपरीत साम्राज्यवादी युद्धकाल में कोरेन्स्की और त्सेरेतेली, रेनोडेल और शीदेमान, चेर्नोफ और दान, हैंडरसन और क्लाइन्स जैसे 'आतुर' जनवादियों और 'समाजिस्टों', 'क्रांतिकारियों' और 'प्रजातंत्रवादियों' का संघर्ष वास्तव में *प्रतिगामी* था, क्योंकि उसने साम्राज्यवाद के पापों पर परदा डालने का, उसे सबल करने का और उसे विजयी बनाने का काम किया. उसी तरह से देश की स्वाधीनता के लिए चलाया जाने वाला मिस्र के व्यापारियों और बुद्धिजीवियों का आंदोलन वास्तव में *क्रांतिकारी* आंदोलन है, यद्यपि उसके नेता जन्म और पेशे से पूंजीपति हैं और समाजवाद का विरोध करते हैं. इसके विपरीत मिस्र की पराधीनता को बनाए रखने के लिए ब्रिटेन की मजदूर सरकार का संघर्ष *प्रतिक्रियावादी* है, यद्यपि उस सरकार के लोग जन्म और पेशे से मजदूर वर्ग के हैं और समाजवाद का "समर्थन" करते हैं. हिंदुस्तान और चीन जैसे विशाल औपनिवेशिक और पराधीन देशों के राष्ट्रीय आंदोलनों के बारे में मुझे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है. स्वाधीनता के मार्ग पर उनका एक-एक पग, चाहे वह औपचारिक जनवाद की मांग के विरुद्ध भी क्यों न पड़ता हो, साम्राज्यवाद के ऊपर प्रचंड वज्र प्रहार के समान है, अतएव निस्संदेह *क्रांतिकारी* है.

लेनिन ने ठीक ही कहा है कि पीड़ित देशों के राष्ट्रीय आंदोलनों का मूल्य जनवाद के किसी ऊपरी दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि साम्राज्यवादविरोधी आंदोलन के सामान्य परिणामों की दृष्टि से ही आंकना चाहिए अर्थात उनका मूल्य "अलग-अलग नहीं, बल्कि संपूर्ण संसार की दृष्टि से" लगाना चाहिए. (लेनिन, **वही, ग्रंथावली,** खंड 19, पृ. 257.)

उत्पीड़ित राष्ट्रों का स्वाधीनता आंदोलन और सर्वहारा क्रांति

राष्ट्रीय सवाल का समाधान ढूंढ़ते समय लेनिनवाद में निम्नलिखित स्थापनाओं को आधार मानकर आगे बढ़ा जाता है :

(i) संसार दो दलों में बंटा हुआ है. एक दल में मुट्ठी भर सभ्य राष्ट्रों के लोग हैं जो महाजनी पूंजी के स्वामी हैं और पृथ्वी पर बसनेवाली जनता के बहुत बड़े भाग का शोषण करते हैं. दूसरे दल में उपनिवेशों और पराधीन देशों के शोषित-उत्पीड़ित राष्ट्र हैं. इस दल में संसार की अधिकांश जनसंख्या है.

(ii) महाजनी पूंजी द्वारा शोषित और उत्पीड़ित उपनिवेश तथा पराधीन देश साम्राज्यवाद की भारी कोतल शक्ति हैं, साम्राज्यवाद की शक्ति के वे बहुत महत्वपूर्ण स्रोत हैं.

(iii) उपनिवेशों और पराधीन देशों की पीड़ित जनता को साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के जरिए ही शोषण और उत्पीड़न से मुक्ति मिल सकती है.

(iv) प्रधान औपनिवेशिक और पराधीन देशों में राष्ट्रीय स्वाधीनता के आंदोलनों का सूत्रपात हो चुका है. इसका अनिवार्य परिणाम होगा पूंजीवाद के लिए

विश्वव्यापी संकट.

(v) विकसित देशों के सर्वहारा आंदोलनों की और औपनिवेशिक देशों के स्वाधीनता आंदोलनों की हितों की मांग है कि ये दोनों तरह के क्रांतिकारी आंदोलन अपने साझा दुश्मन इस साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक ही मोर्चे में संगठित हो जाएं.

(vi) एक साझा क्रांतिकारी मोर्चे का संगठन किए और उसे दृढ़ बनाए बिना न तो उन्नत देशों में मजदूर वर्ग की ही जीत हो सकती है और न उत्पीड़ित राष्ट्र ही साम्राज्यवाद के जुए से निकल सकते हैं.

(vii) जबतक उत्पीड़क राष्ट्रों का सर्वहारा वर्ग उत्पीड़ित राष्ट्रों के स्वाधीनता आंदोलन में "अपने ही देश के" साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रत्यक्ष और सार्थक रूप से सहायता नहीं पहुंचाता, तबतक इस तरह के साझा क्रांतिकारी मोर्चे का निर्माण असंभव है, क्योंकि, "जो राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों का शासन है वह स्वयं भी स्वतंत्र नहीं हो सकता." (एंगेल्स)

(viii) उपरोक्त सहायता का अर्थ है प्रत्येक राष्ट्र के पृथक होने के और अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित करने के अधिकार का समर्थन करना; उसके इस अधिकार के पक्ष में प्रचार करना और उसे कार्य रूप देने का प्रयत्न करना.

(ix) समाजवाद की विजय का भौतिक आधार है एक विश्वव्यापी आर्थिक व्यवस्था की स्थापना. किंतु उपरोक्त आधार पर अमल किए बिना इस तरह की आर्थिक व्यवस्था के भीतर विभिन्न राष्ट्रों को संगठित करना और उनमें परस्पर सहयोग स्थापित करना असंभव होगा.

(x) राष्ट्रों का यह संघ ऐच्छिक ही हो सकता है. उसकी स्थापना परस्पर विश्वास तथा एक दूसरे के प्रति भाईचारे की भावना के आधार पर ही हो सकती है.

इसलिए राष्ट्रों के सवाल के दो पहलू हैं, उसकी दो प्रवृत्तियां हैं. एक तरफ तो साम्राज्यवादी बेड़ियों से जकड़े हुए देशों की इन बेड़ियों से छुटकारा पाकर अपने-अपने स्वाधीन राष्ट्रीय राज्य स्थापित करने की प्रवृत्ति है. इस प्रवृत्ति की उत्पत्ति साम्राज्यवादी उत्पीड़न और औपनिवेशिक शोषण से हुई है. दूसरी तरफ इन राष्ट्रों के आर्थिक मेल-मिलाप की प्रवृत्ति हुई है जो विश्वव्यापी आर्थिक व्यवस्था और विश्वव्यापी बाजार की स्थापना से उत्पन्न हुई है.

लेनिन ने लिखा है, "पूंजीवाद के विकास के युग में राष्ट्रीय समस्या के अन्दर दो ऐतिहासिक प्रवृत्तियां दीख पड़ती हैं. पहले तो राष्ट्रों के अन्दर राष्ट्रीय जीवन और राष्ट्रीय आंदोलन की चेतना उत्पन्न होती है; वे हर तरह के राष्ट्रीय शोषण के विरुद्ध संघर्ष छेड़ते हैं और राष्ट्र राज्यों की स्थापना करते हैं. दूसरे, विभिन्न राष्ट्रों के बीच तरह-तरह के संबंध संपर्क स्थापित होते हैं, उनके बीच हर प्रकार का आदान-प्रदान बढ़ता है, राष्ट्रीय सीमाएं टूटने लगती हैं, पूंजी को अंतर्राष्ट्रीय एकता स्थापित होती है और आर्थिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक आदि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अंतर्राष्ट्रीय

एकता का निर्माण होता है.

"ये दोनों ही प्रवृत्तियां पूंजीवाद के विकास के निरपवाद नियम हैं. पहली प्रवृत्ति पूंजीवादी विकास के आरंभिक युग में प्रबल होती है. दूसरी प्रवृत्ति पूंजीवाद की चौहद्दी को इंगित करती है. वह उस युग की विशेषता है जब पूंजीवादी समाज परिपक्व होकर **समाजवादी** समाज की ओर बढ़ने लगता है." (लेनिन, **राष्ट्रीय सवाल के बारे में आलोचनात्मक टिप्पणियां, ग्रंथावली, खंड 17, पृ. 139-140.**)

साम्राज्यवाद के लिए ये प्रवृत्तियां घोर असंगतियां बन जाती हैं; क्योंकि उपनिवेशों का शोषण किए बिना और उन्हें अपनी लौह श्रृंखला के "अभिन्न अंग" के रूप में सदा बांधे रखे बिना साम्राज्यवाद जी नहीं सकता. नए-नए उपनिवेशों को जीतकर और अपना विस्तार करके ही साम्राज्यवाद विभिन्न राष्ट्रों को एकत्र कर सकता है. इसके बिना उसका अस्तित्व ही असंभव है.

इसके विपरीत जहां तक कम्युनिज्म का संबंध है उसके लिए ये प्रवृत्तियां एक ही उद्देश्य के दो अंग हैं. साम्राज्यवाद के शिकंजे से उत्पीड़ित राष्ट्रों को मुक्त करने के उसके प्रधान उद्देश्य के दो पक्ष हैं. कारण स्पष्ट है. कम्युनिज्म की धारणा है कि पारस्परिक विश्वास और स्वेच्छापूर्ण समझौते के आधार पर ही विभिन्न राष्ट्रों को एक विश्वव्यापी संघ में एकत्र किया जा सकता है; साम्राज्यवादी ढांचे के "अभिन्न अंगों" को उससे 'अलग' करके ही, उपनिवेशों को स्वाधीन राज्यों में परिवर्तित करके ही, राष्ट्रों की इस ऐच्छिक मैत्री, इस ऐच्छिक संघ की स्थापना की जा सकती है.

इसलिए आवश्यक है कि ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, संयुक्त राज्य अमेरिका, इटली, जापान जैसे समस्त शासक राष्ट्रों के "समाजवादियों" के साम्राज्यवादी दंभ के विरुद्ध दृढ़तापूर्वक एवं निरंतर और कठोर संघर्ष किया जाए. ये लोग अपने साम्राज्यवादी संस्कारों से लोहा लेना नहीं चाहते और न वे "अपने" उपनिवेशों के गुलाम राष्ट्रों को ही उत्पीड़न से मुक्ति पाने और साम्राज्य से अलग होने के संघर्ष का समर्थन करना चाहते हैं.

इस तरह के संघर्ष के बिना शासक देशों के सर्वहारा वर्ग में सच्ची अंतर्राष्ट्रीयता की भावना भरना असंभव होगा, पराधीन देशों और उपनिवेशों की श्रमजीवी जनता के साथ मेलजोल बढ़ाने की और सर्वहारा क्रांति के लिए वास्तविक तैयारी करने की उन्हें सच्ची शिक्षा देना भी बिल्कुल नामुमकिन होगा. अगर रूसी सर्वहारा वर्ग को पुराने रूसी साम्राज्य के शोषित उत्पीड़ित राष्ट्रों का सहयोग और समर्थन न प्राप्त होता तो वहां पर क्रांति भी न सफल हो पाती, और न कोल्चक तथा दनिकिन के विद्रोह को ही कुचला जा सकता. किंतु इन राष्ट्रों का सहयोग और समर्थन प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक था कि रूसी मजदूर वर्ग पहले अपने राष्ट्र की साम्राज्यवादी श्रृंखला को छिन्न भिन्न कर दे और रूसी साम्राज्य के समस्त राष्ट्रों को उत्पीड़न के बंधन से मुक्त कर दे.

ऐसा किए बिना सोवियत राज्य की जड़ जमाना संभव न होता; और न सच्ची अंतर्राष्ट्रीयता की भावना का संचार करके विभिन्न राष्ट्रों के परस्पर सहयोग के आधार पर उस महत्वपूर्ण संगठन का ही निर्माण संभव होता जिसे हम सोवियत सोशलिस्ट प्रजातंत्र संघ के नाम से पुकारते हैं, भविष्य में विश्वव्यापी आर्थिक व्यवस्था के आधार पर दुनिया के तमाम राष्ट्रों का जो संघ बनने वाला है, सोवियत संघ उसका स्तुत्य उदाहरण है.

इसलिए आवश्यक है कि गुलाम देशों के समाजवादियों की राष्ट्रीय संकीर्णता, पृथकता और कूपमंडूकता की भावना के विरुद्ध संघर्ष किया जाए, ये लोग अपनी संकुचित राष्ट्रीय सीमा के बाहर नहीं देखना चाहते, न वे विभिन्न देशों के स्वाधीनता आंदोलन का और शासक देशों के सर्वहारा आंदोलनों का ही संबंध देख पाते हैं.

इस तरह के संघर्ष के बिना उत्पीड़ित देशों के सर्वहारा वर्गों के लिए अपनी स्वतंत्र नीति को बनाए रखना संभव न होगा, और न उनके लिए यही संभव होगा कि अपने साझे शत्रु साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने के उद्देश्य से शासक देश के सर्वहारा के साथ वर्ग एकता स्थापित कर सकें.

इस तरह के संघर्ष के बिना अंतर्राष्ट्रीयता केवल एक स्वप्न बनकर रह जाएगी.

शासक और शासित राष्ट्रों के श्रमजीवी जनसमूह को क्रांतिकारी अंतर्राष्ट्रीयता की विचारधारा में शिक्षित करने का यही एक मार्ग है.

मजदूरों में अंतर्राष्ट्रीयता की भावना का संचार करने के संबंध में कम्युनिस्टों के दो कर्तव्यों का निर्देश करते हुए लेनिन ने लिखा है :

"बड़े और छोटे, शोषक और शोषित, विजित और विजेता राष्ट्रों के मजदूरों को क्या बिल्कुल *एक ही तरह की* ... शिक्षा दी जा सकती है?

"स्पष्ट है कि ऐसा नहीं हो सकता. ध्येय सबके लिए एक है – सभी राष्ट्रों के बीच पूर्ण समानता लाने का, उनमें निकटतम सौहार्द स्थापित करने का और अंत में *सबको एक करने* का, लेकिन इस एक ध्येय को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक का रास्ता स्पष्टतः अलग-अलग है, ठीक उसी तरह जैसे कि एक पुस्तक के किसी पृष्ठ के मध्य बिंदु पर पहुंचने के लिए एक किनारे से बाईं तरफ को आना पड़ेगा तो दूसरे किनारे से दाहिनी तरफ को. उदाहरण के लिए एक बड़ी, उत्पीड़क और साम्राज्यलोभी विजेता राष्ट्र के किसी समाजवादी को ले लीजिये. राष्ट्रों के एकीकरण के सिद्धांत को साधारण तौर से प्रतिपादन करते समय यदि यह समाजवादी महाशय एक क्षण के लिए भी यह बात भूल जाएं कि 'उनके' जार, कैसर, जार्ज, प्वांकारे आदि भी छोटी जातियों के साथ *एकीकरण का समर्थन करते हैं* (अर्थात उन्हें जीतकर हड़प लेना चाहते हैं) - जैसे जार गैलीशिया के साथ और कैसर बेल्जियम के साथ 'एकीकरण' करने को उतावला हो रहा है तो इस तरह के समाजवाद के पंडित को सिद्धांत में अंध कचरा और व्यवहार में साम्राज्यवाद का दलाल मानना चाहिए.

"उत्पीड़क देशों के मजदूरों को अंतर्राष्ट्रीयता की शिक्षा देते समय इस बात पर जोर देना नितांत आवश्यक है कि वे पीड़ित देशों के पूरी तरह अलग हो जाने के अधिकार का समर्थन करें और उसकी मांग करें. इसके बिना अंतर्राष्ट्रीयता की भावना *नहीं* पनप सकती. अगर किसी शासक राष्ट्र का कोई समाजवादी अंतर्राष्ट्रीयता का इस अर्थ में प्रचार *नहीं करता* तो उसे घोर साम्राज्यवादी और पक्का बदमाश मानने का हमें अधिकार है. और यह हमारा कर्तव्य है. यद्यपि समाजवाद की स्थापना के **पूर्व** पीड़ित राष्ट्रों के अलग होने की मांग पूरी होने या उसे 'व्यवहार्य' माने जाने की *संभावना* बहुत कम, हजार में एक के बराबर है, तो भी यह एक निरपवाद मांग है और हर हालत में उसका प्रचार होना चाहिए.

"दूसरी तरफ, छोटे राष्ट्रों के समाजवादियों को हमारे प्रस्ताव के दूसरे सिद्धांत का राष्ट्रों के 'ऐच्छिक *संघ* का' - अपने आंदोलन में प्रचार करना चाहिए. अंतर्राष्ट्रीयता की भावना की अवहेलना किए बिना ही वह अपने राष्ट्र की पूर्ण राजनीतिक स्वाधीनता की मांग कर सकता है; *या* यह मांग कर सकता है कि उसे किसी पड़ोसी राज्य के साथ मिला दिया जाए, किंतु हर हालत में उसे लघु राष्ट्र संकीर्णता, कूपमंडूकता और बिलगाव का *विरोध करना* चाहिए; हर हालत में उसे आम और मुख्य मांग की स्वीकृति के लिए संघर्ष करना चाहिए और विशेष व छोटे हितों को सामान्य व प्रमुख हितों के सम्मुख गौण समझना चाहिए.

"जिन लोगों ने इस प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक विचार नहीं किया है, उनका कहना है कि हमारे दृष्टिकोण में एक 'असंगति' है. शासक राष्ट्रों के समाजवादी शासितों के '*अलग हो जाने* की स्वाधीनता' की मांग करें और शासित राष्ट्रों के सोशलिस्ट दूसरे राष्ट्रों के साथ '*संघ* बनाने की स्वाधीनता' का समर्थन करें, इनमें परस्पर विरोध है. किंतु थोड़े ही चिंतन से यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि वर्तमान अवस्था से अंतर्राष्ट्रीयता की अवस्था में पहुंचने का तथा राष्ट्रों के संयुक्त संघ की स्थापना का अपना लक्ष्य प्राप्त करने का और कोई मार्ग नहीं है और न हो ही सकता है." (लेनिन, **आत्मनिर्णय के बारे में बहस का सारांश, ग्रंथावली**, खंड 19, पृ. 261-262.)

७. रणनीति और कार्यनीति

इस विषय में मैं छह प्रश्नों पर विचार करना चाहता हूं :

(i) रणनीति और कार्यनीति अर्थात सर्वहारा के वर्ग संघर्ष संबंधी नेतृत्व का विज्ञान;

(ii) क्रांति की विभिन्न अवस्थाएं और उनकी रणनीति;

(iii) आंदोलन के चढ़ाव और उतार तथा कार्यनीति;

(iv) रणनीति संबंधी नेतृत्व;

(v) कार्यनीति संबंधी नेतृत्व;

(vi) सुधारवाद और क्रांतिवाद.

रणनीति और कार्यनीति अर्थात सर्वहारा के वर्ग संघर्ष संबंधी नेतृत्व का विज्ञान

दूसरे इंटरनेशनल की प्रधानता के युग में सर्वहारा वर्ग की सेनाओं का निर्माण और उनकी शिक्षा न्यूनाधिक शांतिपूर्ण विकास की परिस्थितियों में हो रही थी. संसदवाद ही इस युग में वर्ग संघर्ष का प्रधान रूप था. प्रचंड वर्ग संघर्षों के प्रश्न, क्रांतिकारी संघर्ष के लिए सर्वहारा वर्ग की तैयारियों के प्रश्न और सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना के अस्त्रों और साधनों के प्रश्न उस समय तात्कालिक महत्व नहीं ग्रहण कर सके थे. सर्वहारा वर्ग की सेनाओं का निर्माण करने और उन्हें शिक्षित बनाने के लिए उस युग का उद्देश्य कानूनी विकास के समस्त मार्गों का उपयोग करने तक ही सीमित था. उस समय की परिस्थितियों में सर्वहारा वर्ग की हैसियत एक विरोधी दल की थी; और उस समय मालूम होता था कि आगे भी उसकी हैसियत ऐसी ही रहेगी. अतएव इन परिस्थितियों के अनुसार संसदवाद का उपयोग करना ही उस युग का मुख्य उद्देश्य था. तब यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि जिस युग में सर्वहारा वर्ग के उद्देश्यों की धारणा इतनी सीमित थी, उसमें न तो कोई सुसंगत रणनीति हो सकती थी और न कोई विस्तृत कार्यनीति. रणनीति और कार्यनीति के संबंध में कुछ छिट-पुट और असंबद्ध धारणाएं अवश्य प्रचलित थीं; किंतु रणनीति और कार्यनीति नाम की कोई वास्तविक वस्तु नहीं थी.

दूसरे इंटरनेशनल ने संघर्ष के संसदवादी तरीकों का इस्तेमाल करने की कार्यनीति अपनाई, लेकिन यह उसका अपराध नहीं था. दूसरे इंटरनेशनल का महान अपराध यह था कि उसने संघर्ष के इन साधनों का मूल्य बहुत बढ़ाकर आंका और उन्हें संघर्ष

का लगभग एकमात्र साधन बन लिया. इतना ही नहीं, जब खुले क्रांतिकारी संघर्षों का युग आरम्भ हुआ और जब संघर्ष के गैरसंसदीय रूपों का प्रश्न प्रमुख बन गया, तब दूसरे इंटरनेशनल की पार्टियों ने इन नए कर्तव्यों की ओर से मुख मोड़ लिया और उनका भार संभालना अस्वीकार कर दिया.

इसके बाद सर्वहारा के प्रत्यक्ष संघर्ष और सर्वहारा क्रांति का युग आया. पूंजीपतियों को उखाड़ फेंकने का प्रश्न इस युग में तात्कालिक रूप से व्यावहारिक प्रश्न बन गया. सर्वहारा की कातल शक्ति के संगठन का प्रश्न (जो सर्वहारा रणनीति का प्रश्न था) इस युग का सर्वप्रमुख प्रश्न बन गया. संघर्ष और संगठन के संसदीय और गैरसंसदीय, सभी रूप इस युग में आकर पूर्णत: प्रकट और पूरी तरह स्पष्ट हो गए (और यह सर्वहारा की कार्यनीति का प्रश्न था). ऐसे ही युग में आकर सर्वहारा वर्ग के संघर्ष की सुसंगत रणनीति और विस्तृत कार्यनीति का निर्माण भी संभव हुआ. इसी युग में लेनिन ने रणनीति और कार्यनीति संबंधी मार्क्स और एंगेल्स के उन विलक्षण विचारों को पुन: प्रतिष्ठित किया जिन्हें दूसरे इंटरनेशनल के अवसरवादियों ने विस्मृति के गर्त में डाल रखा था. लेकिन लेनिन इतने पर ही नहीं रुक गए. उन्होंने मार्क्स और एंगेल्स की धारणाओं को और विकसित किया, नए विचारों और तत्वों से उन्हें और पुष्ट बनाया, और सबको मिलाकर सर्वहारा वर्ग संघर्ष के नेतृत्व के लिए मूल सिद्धांतों और नियमों के एक शास्त्र का सृजन किया. **क्या करें, दो कार्यनीतियां, राज्य और क्रांति, सर्वहारा क्रांति और गद्दार काउत्स्की, "वामपंथी" कम्युनिज्म, एक बचकाना मर्ज** आदि लेनिन की पुस्तकें निस्संदेह मार्क्सवाद के सामान्य भंडार के अनमोल रत्न हैं. क्रांतिकारी शस्त्रागार के बहुमूल्य अस्त्रों के रूप में युग-युग तक उनको श्रद्धा और सम्मान के साथ सुरक्षित रखा जाएगा. लेनिनवाद की रणनीति और कार्यनीति सर्वहारा वर्ग के क्रांतिकारी संघर्ष के नेतृत्व का विज्ञान है.

क्रांति की विभिन्न अवस्थाएं और उनकी रणनीति

रणनीति क्या है? क्रांति की एक निश्चित अवस्था में सर्वहारा वर्ग के मुख्य प्रहार की दिशा निर्धारित करने, क्रांति की सेनाओं का (मुख्य और गौण कोतल सेनाओं का) उचित रूप से विभाजन करके उनके दिशा-निर्देश की विस्तृत योजना बनाने और उस योजना के अनुसार डटकर युद्ध करने का नाम ही रणनीति है.

हमारी क्रांति दो अवस्थाओं से गुजर चुकी है और अक्तूबर क्रांति के बाद से उसने तीसरी अवस्था में प्रवेश किया है. क्रांति की विभिन्न अवस्थाओं के साथ-साथ हमारी रणनीति भी बदलती रही है.

क्रांति की पहली अवस्था (1903 से फरवरी 1907 तक)

क्रांति का उद्देश्य : जारशाही का ध्वंस करके मध्य युगीन अवशेषों को पूर्ण रूप से नष्ट कर देना.

क्रांति की मुख्य सेना : सर्वहारा वर्ग.

मुख्य सेना की सहायक या कोतल सेना : किसान वर्ग

मुख्य प्रहार की दिशा : किसानों को अपनी ओर मिलाकर और जारशाही के साथ *समझौता* करके क्रांति के विरुद्ध षड्यंत्र करने वाले उदारपंथी-राजतंत्रवादी पूंजीपतियों को पृथक करके पंगु बना देना.

सेनाओं के विभाजन और दिशा निर्देश की योजना : उपरोक्त कार्य को पूरा करने के लिए सर्वहारा वर्ग को किसान वर्ग के साथ मैत्री स्थापित करना. इस संबंध में लेनिन ने लिखा था, "किसान जनसमूह का सहयोग प्राप्त करके सर्वहारा वर्ग को जनवादी क्रांति को उसके चरम लक्ष्य तक पहुंचा देना चाहिए जिससे कि निरंकुश शासन के विरोध को बलपूर्वक दबाया जा सके और पूंजीपतियों की अस्थिरता को पंगु बना दिया जाए." (लेनिन, **जनवादी क्रांति में सामाजिक जनवाद की दो कार्यनीतियां, ग्रंथावली**, खंड 3, पृ. 110-11.)

क्रांति की दूसरी अवस्था (मार्च 1917 से अक्तूबर 1917 तक)

उद्देश्य : रूस के साम्राज्यवाद की जड़ों को उखाड़कर देश को साम्राज्यवादी युद्ध से अलग कर लेना.

क्रांति की मुख्य सेना : सर्वहारा वर्ग.

सर्वहारा वर्ग के मुख्य सहायक या उसकी कोतल सेना : गरीब किसान.

सर्वहारा वर्ग के अन्य सहायक : पड़ोसी देशों के सर्वहारा वर्ग.

अन्य सहायक परिस्थितियां : युद्ध का बहुत दिनों तक चलना, साम्राज्यवाद का आंतरिक संकट आदि.

मुख्य प्रहार की दिशा : किसान वर्ग के श्रमजीवी जनसमूह को अपनी ओर मिलाकर और साम्राज्यवादियों के साथ *समझौता* करके क्रांति के विरुद्ध षड्यंत्र करने वाले निम्नपूंजीवादी जनवादियों (मेंशेविकों और सामाजिक क्रांतिकारियों) का पर्दाफाश करके उन्हें पंगु बना देना.

सेनाओं के विभाजन और दिशा-निर्देश की योजना : गरीब किसानों के साथ सर्वहारा वर्ग की मैत्री. इस संबंध में लेनिन ने लिखा है, "जनता में से अर्धसर्वहारा स्तर के लोगों का सहयोग प्राप्त करके सर्वहारा वर्ग को समाजवादी क्रांति पूर्ण करनी चाहिए, जिससे कि पूंजीपतियों के विरोध को बलपूर्वक दबाया जा सके और किसानों और निम्नपूंजीपतियों की अस्थिरता को पंगु बना दिया जाए" (वही, पृ.110-11.)

क्रांति की तीसरी अवस्था (अक्तूबर क्रांति के बाद आरम्भ)

उद्देश्य : एक देश में सर्वहारा अधिनायकत्व की जड़ जमाकर सभी देशों से साम्राज्यवाद को मिटा देने के लिए उसका प्रयोग किया जाए. अब क्रांति एक देश की सीमाओं को पार करके दूसरे देशों में फैल रही है; विश्व क्रांति का युग आरम्भ हो चुका है.

क्रांति की मुख्य सेना : इस अवस्था में क्रांति की शक्तियां हैं, एक देश में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व और संसार के अन्य देशों में सर्वहारा वर्ग का क्रांतिकारी आंदोलन.

मुख्य कोतल सेना : सर्वहारा के मुख्य सहायक हैं उन्नत देशों के अर्धसर्वहारा और वहां के छोटे किसानों का जनसमूह तथा उपनिवेशों और पराधीन देशों में स्वाधीनता आंदोलन.

मुख्य प्रहार की दिशा : साम्राज्यवाद के साथ *समझौता* कर लेने की नीति के प्रधान समर्थकों, निम्नपूंजीवादी जनवादियों और दूसरे इंटरनेशनल की पार्टियों का पर्दाफाश करके उनको पंगु बना देना.

सेनाओं के विभाजन और दिशा निर्देश की योजना : उपनिवेशों और पराधीन देशों के स्वाधीनता आंदोलनों के साथ सर्वहारा क्रांति का संबंध स्थापित करना.

रणनीति का संबंध क्रांति की मुख्य और कोतल सेनाओं से है. क्रांति की एक अवस्था से दूसरी अवस्था में संक्रमण के साथ साथ उसकी रणनीति में भी परिवर्तन हो जाता है, किंतु जबतक एक अवस्था पूरी नहीं हो जाती तबतक रणनीति भी नहीं बदलती. एक अवस्था भर के लिए उसका रूप एक ही रहता है.

आंदोलन के चढ़ाव और उतार तथा कार्यनीति

कार्यनीति क्या है? आंदोलन के चढ़ाव और उतार के, अथवा क्रांति के ज्वार भाटे के अपेक्षाकृत छोटे काल में सर्वहारा वर्ग की नीति को निर्धारित करने तथा आवश्यकता के अनुसार सर्वहारा वर्ग के संघर्ष और संगठन के पुराने तरीकों की जगह नए तरीकों का और पुराने नारों की जगह नए नारों का प्रयोग करने और नए तथा पुराने सब तरीकों को मिलाकर सर्वहारा वर्ग के संघर्ष को चलाने का ही नाम कार्यनीति है. रणनीति का उद्देश्य बड़ा होता है, उसका संबंध एक पूरे युग से होता है. कार्यनीति का उद्देश्य छोटा होता है, उसका संबंध एक युग की किसी अवस्था विशेष से होता है. मान लीजिए रणनीति का उद्देश्य जारशाही का अंत करना है (जैसा कि पूंजीवादी क्रांति के युग में था - संपादक) या पूंजीवाद का अंत करना है (जैसा कि समाजवादी क्रांति के युग में था - संपादक) - अर्थात रणनीति का उद्देश्य जारशाही अथवा पूंजीपतियों के विरुद्ध लड़ाई में पूर्ण विजय प्राप्त करना है तो कार्यनीति का उद्देश्य पूरी लड़ाई को जीतने का न होकर केवल विशिष्ट संघर्षों या मुठभेड़ों में विजय प्राप्त करना होगा. कार्यनीति का उद्देश्य छोटा और अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण होगा. उसका उद्देश्य क्रांति के ज्वार या भाटे के काल की किसी निश्चित अवस्था के अनुकूल किसी विशेष आंदोलन या विशेष संघर्ष को सफलतापूर्वक संपन्न करना होगा. कार्यनीति रणनीति का एक अंग है, रणनीति के आगे वह गौण है और उसकी सहायक है.

क्रांति में ज्वार या भाटा आने के साथ कार्यनीति में भी परिवर्तन होता है. उदाहरण के लिए रूसी क्रांति की पहली अवस्था को (1903 से फरवरी 1917 तक) ले

लीजिए, उस अवस्था की पूरी अवधि में रणनीति की योजना एक ही थी किंतु कार्यनीति में कई बार परिवर्तन हुए थे. 1903 से 1905 तक क्रांति उठान पर थी और आंदोलन चढ़ रहा था, इसलिए कार्यनीति भी इस अवस्था के अनुकूल थी. उस काल में पार्टी ने आक्रमण की कार्यनीति अपनाई. उस समय संघर्ष ने कई रूप धारण किए, स्थानीय राजनीतिक हड़तालें हुईं, राजनीतिक जुलूस निकाले गए और प्रदर्शन हुए, फिर आम राजनीतिक हड़ताल हुई, दूमा का बायकाट हुआ, विद्रोह और युद्ध के क्रांतिकारी नारे लगे. संघर्ष के स्वरूप में इन परिवर्तनों के साथ-साथ संगठन के रूप में तदनुकूल परिवर्तन हुए. पहले मिल कमेटियां, क्रांतिकारी किसान समितियों की स्थापना हुई, फिर हड़ताल कमेटियां बनाई गईं, मजदूर प्रतिनिधियों के सोवियत कायम हुए, तब मजदूर वर्ग की पार्टी ने लगभग खुलकर काम करना शुरू किया. क्रांतिकारी संगठन ने एक के बाद एक यही रूप धारण किए.

1907 से 1912 के काल में पार्टी को पीछे हटना पड़ा. इसलिए उस समय की कार्यनीति भी भिन्न थी. उस समय क्रांति का ज्वार उतर चुका था, क्रांति की लहर पीछे हट रही थी और क्रांतिकारी आंदोलन उतार पर था. उस समय की कार्यनीति निर्धारित करते समय इस वस्तुस्थिति को ध्यान में रखना आवश्यक था. इसीलिए उस काल की कार्यनीति दूसरी हुई. कार्यनीति के साथ-साथ संघर्ष और संगठन के रूपों में भी परिवर्तन हुए. दूमा के बहिष्कार की नीति को त्यागकर दूमा में भाग लेने का निश्चय हुआ; दूमा के बाहर खुले और प्रत्यक्ष क्रांतिकारी संघर्ष करने की नीति के स्थान पर दूमा में जाकर वैधानिक तरीके से काम करने और भाषण देने का कार्यक्रम अपनाया गया; आम राजनीतिक हड़तालों की जगह आंशिक आर्थिक हड़तालें ही रह गईं या काम में बिल्कुल सुस्ती आ गई. पार्टी को फिर अंतर्ध्यान हो जाना पड़ा और क्रांतिकारी जनसंगठनों के स्थान पर उसे सांस्कृतिक, शिक्षा संबंधी, सहकारिता संबंधी तथा दूसरी तरह के कानूनी संगठनों की शरण लेनी पड़ी.

क्रांति की दूसरी और तीसरी अवस्थाओं के संबंध में भी यही बात सच है. उन अवस्थाओं में दर्जनों बार कार्यनीति बदली, किंतु रणनीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ.

कार्यनीति का संबंध सर्वहारा वर्ग के संघर्ष और संगठन के रूपों से, इन रूपों के परिवर्तनों से और पुराने रूपों के मेल से बनने वाले नए-नए रूपों से है. क्रांति की किसी विशेष अवस्था में उसके उत्थान और पतन, उसके चढ़ाव और उतार की परिस्थितियों के अनुकूल कार्यनीति में कई बार परिवर्तन हो सकते हैं. (किंतु रणनीति में ऐसा नहीं होता - संपादक)

रणनीतिक नेतृत्व

क्रांति की कोतल सेना दो प्रकार की होती है – प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष.
प्रत्यक्ष कोतल में हैं :

(i) किसान वर्ग और साधारण तौर से देश की जनता का मध्यवर्ती हिस्सा;

(ii) पड़ोसी देशों का सर्वहारा वर्ग;

(iii) उपनिवेशों और पराधीन देशों के क्रांतिकारी आंदोलन और

(iv) सर्वहारा अधिनायकत्व की शक्ति और सफलताएं.

किसी शक्तिशाली दुश्मन के आगे एक टुकड़ा डालकर उसे थोड़ी देर के लिए अपनी ओर कर लेने और थोड़ा-सा अवकाश पा लेने के लिए सर्वहारा वर्ग को इनमें से कुछ सफलताओं का थोड़ी देर के लिए त्याग करना पड़ सकता है. पर दुश्मन की तुलना में अपनी शक्ति को वह कभी कम नहीं होने देगा.

अप्रत्यक्ष कोतल में हैं :

(i)सर्वहारा वर्ग को छोड़कर देश के अन्य वर्गों के पारम्परिक विरोध और असंगतियां जिनका उपयोग करके सर्वहारा अपने शत्रु को कमजोर बना सकता है और अपने सहायकों की संख्या बढ़ा सकता है;

(ii)मजदूर राज के दुश्मन पूंजीवादी राज्यों के आपसी विरोध और असंगतियां तथा उनके युद्ध (जैसे साम्राज्यवादी युद्ध), अपनी रणनीति निर्धारित करते समय सर्वहारा वर्ग जिनका उपयोग अपने हित में कर सकता है.

पहली कोटि के कोतल के बारे में विस्तार से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसका महत्व सर्वथा स्पष्ट है. दूसरी कोटि के कोतल का महत्व सदा स्पष्ट नहीं रहता. किंतु क्रांति की प्रगति में कभी-कभी उसकी बहुत महत्वपूर्ण भूमिका होती है. उदाहरण के लिए निम्नपूंजीवादी जनवादियों (अर्थात सामाजिक क्रांतिकारियों) और उदारपंथी राजतंत्रवादी पूंजीपतियों (अर्थात वैधानिक जनवादियों) के प्रथम क्रांति के समय के और उसके बाद होने वाले परस्पर संघर्ष ले लीजिए. इस संघर्ष के भारी महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता. किसानों को पूंजीवादी प्रभाव से मुक्त करने में उस संघर्ष से निश्चित रूप से सहायता मिली थी. उसी तरह अक्टूबर क्रांति के समय साम्राज्यवादियों के मुख्य गिरोहों के बीच जो भयंकर युद्ध छिड़ा हुआ था, क्रांति की सफलता के लिए उसके निर्णयकारी महत्व से भी इंकार नहीं किया जा सकता. युद्ध में ग्रस्त ये साम्राज्यवादी एक दूसरे का गला काटने में व्यस्त थे. यही कारण था कि नवजात सोवियत राज्य के विरुद्ध अपनी सारी शक्ति वे न लगा सके. फलस्वरूप सर्वहारा वर्ग को अपनी शक्तियों को बटोरने और अपने शासन के पाए को मजबूत करने का अवसर मिल गया और वह कोल्चाक और देनिकिन के षड्यंत्रों को असफल कर सका. आज जबकि साम्राज्यवादी गिरोहों का यह पारम्परिक विरोध और भी गहरा होता चला जा रहा है और उनके बीच एक नए युद्ध का छिड़ना अवश्यंभावी बन रहा है तब इस तरह की अप्रत्यक्ष सहायता का महत्व और भी बढ़ गया है.

क्रांति के विकास की किसी विशिष्ट अवस्था में उसके उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए इन समस्त कोतल शक्तियों का समुचित उपयोग करना ही रणनीति का मुख्य

कार्य है.

कोतल शक्तियों के समुचित उपयोग का क्या तात्पर्य है?

उसका तात्पर्य है कुछ आवश्यक शर्तों को पूरा करना. इनमें से निम्नलिखित प्रधान हैं :

(i) इस संबंध में पहली शर्त है निर्णयात्मक घड़ी में क्रांति की प्रमुख शक्तियों को दुश्मन के सबसे कमजोर स्थल पर लगा देना. जब क्रांति परिपक्व हो चुकी हो, जब आक्रमण पूरे वेग से चल रहा हो, जब विद्रोह की लपटें फैल रही हों और जब कोतलशक्ति को मोर्चे पर लाकर अग्रदल को बल पहुंचाना ही सफलता की मुख्य शर्त बन गई हो, ऐसी निर्णायक घड़ी में क्रांति की प्रधान सेना को दुश्मन की पांत के सबसे कमजोर स्थानों पर झोंक देना ही कोतल शक्ति के समुचित उपयोग की पहली शर्त है. 1917 के अप्रैल से अक्तूबर तक के काल में पार्टी की जो रणनीति थी उससे कोतल शक्तियों के उपयोग के ढंग पर प्रकाश पड़ता है. उस समय दुश्मन एक जीवन मरण के युद्ध में फंसा हुआ था, यही उसकी सबसे बड़ी कमजोरी थी. पार्टी ने इसी कमजोर स्थल पर प्रहार किया. उसने युद्ध के विरोध में सर्वहारा अग्रदल के इर्द गिर्द जनता के संपूर्ण विशाल समूह को ला खड़ा किया. उस काल में पार्टी की रणनीति यह थी कि एक तरफ तो जुलूसों और प्रदर्शनों की सहायता से अग्रदल को गलियों और सड़कों पर मोर्चा लेने की शिक्षा दी जाए और दूसरी ओर, पिछवाड़े में सोवियतों की और मोर्चे पर सैनिक समितियों की स्थापना की जाए और उन्हीं के जरिए कोतल सेना का अग्रदल से निकटतम संबंध स्थापित किया जाए. क्रांति के परिणाम से स्पष्ट है कि उस समय कोतल सेना का उपयोग समुचित रूप से किया गया था.

विद्रोह के प्रश्न पर मार्क्स-एंगेल्स के सर्वविदित सिद्धांत को अपने शब्दों में प्रकट करते हुए लेनिन ने क्रांति की सेनाओं का उचित सामरिक ढंग से उपयोग करने के संबंध में लिखा है :

"(i) विद्रोह के साथ कभी *खिलवाड़ न करना चाहिए*. आरम्भ में ही अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि विद्रोह को *उसकी चरम सीमा तक* पहुंचाना होगा.

"(ii) निर्णय की घड़ी आ जाने पर निर्णयकारी स्थल पर तुम्हें *बहुत भारी ताकत* लगा देनी होगी; नहीं तो दुश्मन विद्रोहियों को नष्ट कर देगा क्योंकि संगठन और युद्ध की तैयारी दोनों ही में वह बढ़ा-चढ़ा है.

"(iii) एक बार विद्रोह आरम्भ हो जाने पर तुम्हें *पूरी दृढ़ता के साथ* आगे बढ़ना होगा और बिना किसी हिचकिचाहट के *आक्रमण* आरम्भ कर देना होगा. 'बचाव की लड़ाई का मार्ग सशस्त्र विद्रोह के लिए मौत का मार्ग है.'

"(iv) दुश्मन की शक्ति जब बिखरी हुई हो तो अनजाने ही उसको धर दबोचो.

"(v) तुम्हें हर दिन (और अगर एक शहर की बात है तो हर घड़ी) नई-नई

सफलताएं प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए चाहे ये सफलताएं छोटी ही क्यों न हों. तुम्हें *'अपने मनोबल को बराबर उच्चा'* रखना चाहिए." (लेनिन, **एक दर्शक की सलाह, ग्रंथावली**, खंड 21, पृ. 319-20.)

(2) दूसरी शर्त है विद्रोह के लिए ठीक समय निश्चित करना. जब दुश्मन का संकट अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया हो, जब यह स्पष्ट हो गया हो कि अग्रदल अंत तक लड़ने के लिए तैयार है, जब कोतल शक्ति हिरावल की मदद के लिए तत्पर हो और जब दुश्मन के दल में भयंकर खलबली और घबड़ाहट फैली हुई हो, तभी अपना निर्णायक प्रहार करना, उसी घड़ी में विद्रोह को आरम्भ करना कोतल शक्तियों के समुचित उपयोग की दूसरी शर्त है.

लेनिन ने कहा है कि निर्णायक संघर्ष के लिए उपयुक्त अवसर तब मानना चाहिए

(i) जब "हमारे विरोधी वर्गों की सभी शक्तियां अच्छी तरह आपस में उलझ गई हों, वे एक दूसरे की दुश्मन बन बैठी हों और अपने बूते के बाहर की लड़ाई लड़ते-लड़ते पूरी तरह थक गई हों";

(ii) जब "सभी अस्थिर, अनिश्चित, आगा-पीछा करने वाले ढीले-ढाले पूंजीपति वर्ग से भिन्न लोगों की निम्नपूंजीपति वर्ग के और निम्नपूंजीवादी जनवादी विचारों के लोगों की जनता के सामने पूरी तरह कलई खुल चुकी हो और व्यावहारिक दिवालिएपन के कारण उनकी मान-मर्यादा पूरी तरह धूल में मिल चुकी हो" और

(iii) जब "सर्वहारा जनसमूह के अन्दर पूंजीपतियों के विरुद्ध होनेवाले निर्मम और कठोर क्रांतिकारी संघर्ष के समर्थन की भावना उत्पन्न होकर तेजी से बढ़ रही हो, तभी समझना चाहिए कि क्रांति परिपक्व हो चुकी है. और यदि हमने उपरोक्त अवस्थाओं का सही-सही मूल्यांकन किया है ... और (आक्रमण का) अवसर उचित रूप से चुना है, तो हमारी जीत भी निश्चित होगी." (लेनिन, **"वामपंथी" कम्युनिज्म : एक बचकाना मर्ज, ग्रंथावली**, खंड 10, पृ. 137-138.).

अक्तूबर विद्रोह का जिस ढंग से संचालन किया गया था उसे इस तरह की रणनीति का आदर्श समझना चाहिए.

इस शर्त का पालन न करने से भयंकर गड़बड़ी हो जाती है, उसमें एक ऐसी खतरनाक स्थिति पैदा होती है जिसे "जोश का ठंडा पड़ जाना" कहते हैं. उस स्थिति में पार्टी या तो आंदोलन से पीछे पड़ जाती है या उससे आगे निकल जाती है. दोनों ही हालत में असफलता का खतरा पैदा हो जाता है. "जोश के ठंडा हो जाने" के बाद के समय को क्यों विद्रोह का समय नहीं चुनना चाहिए इसका एक उदाहरण अगस्त, 1917 की वह घटना है जब हमारे साथियों के एक गुट ने जनवादी सम्मेलन के प्रतिनिधियों को गिरफ्तार करके विद्रोह आरम्भ करने की चेष्टा की थी. उस समय सोवियतों के अन्दर अनिश्चय की भावना थी, उस समय तक मोर्चे के सैनिक अपना कोई निश्चित मत नहीं बना सके थे और न कोतल शक्तियों का ही हिरावल के साथ

उपयुक्त संबंध स्थापित हो सका था.

(3) कोतल शक्ति के समुचित उपयोग की तीसरी शर्त यह है कि सामने आने वाली कठिनाइयों और मुसीबतों की जरा भी परवाह न करके निश्चित मार्ग पर दृढ़ता के साथ आगे बढ़ते जाना चाहिए. यह इसलिए आवश्यक है कि अग्रदल की आंखों से संघर्ष का मुख्य लक्ष्य ओझल न होने पाए और अग्रदल के नेतृत्व में आती हुई जनता पथभ्रष्ट न होकर लक्ष्य की ओर सीधा-सीधी बढ़ सके. इस शर्त का पालन न करने से एक भयानक स्थिति पैदा हो जाती है जिसे मल्लाह 'दिशा-भ्रम' कहा करते हैं. इस प्रकार के 'दिशा-भ्रम' के उदाहरण के रूप में जनवादी सम्मेलन के तुरंत बाद की एक घटना का उल्लेख किया जा सकता है. उस समय पार्टी ने आरंभिक संसद (प्रि-पार्लियामेंट) में भाग लेने का निश्चय किया था. थोड़ी देर के लिए पार्टी भूल गई कि पूंजीपति वर्ग उस संसद के द्वारा देश को सोवियतों के मार्ग से हटाकर पूंजीवादी संसदवाद के दलदल में घसीटने की कोशिश कर रहा था. पार्टी जैसे यह भी भूल गई थी कि उक्त संस्था में भाग लेने से, जो तमाम किसान और मजदूर "राज्य सोवियतों का हो" का नारा लेकर क्रांतिकारी संघर्ष में लगे हुए थे उनमें तरह-तरह के भ्रम फैल जाएंगे और वे उलझन में पड़ जाएंगे. इस भूल का सुधार बोल्शेविकों को आरंभिक संसद से वापस बुलाकर किया गया.

(4) चौथी शर्त है आवश्यकता पड़ने पर धीरज से पीछे हट जाना. जब दुश्मन मजबूत हो, जब पीछे हटना अनिवार्य हो, जब दुश्मन द्वारा जबरदस्ती छेड़े गए संघर्ष में भाग लेना स्पष्टतः अलाभकर हो और जब पीछे हट जाना ही अग्रदल को बचाने का और कोतल शक्ति को सुरक्षित रखने का एकमात्र रास्ता हो उस समय अपनी कोतल सेना को संभालते हुए ठिकाने से पीछे हट जाना ही कोतल शक्ति के समुचित संचालन की चौथी शर्त है. लेनिन ने कहा है,

"क्रांतिकारी पार्टियों को अपनी शिक्षा पूरी करना अत्यावश्यक है. आक्रमण करना उन्होंने सीख लिया है. अब उन्हें यह सीखना है कि पीछे कैसे हटा जाए. यह जान लेने पर ही उनका ज्ञान पूरा हो सकता है. यह बात उन्हें समझ लेनी है. साथ ही उन्हें यह भी समझ लेना है और इसे प्रत्येक क्रांतिकारी वर्ग को अपने ही कटु अनुभवों से सीखना पड़ता है कि जबतक आक्रमण करने का और ठिकाने से पीछे हटने, दोनों का ही ढंग उन्हें मालूम न हो तबतक उनकी जीत भी असंभव है." (लेनिन, वही, **ग्रंथावली**, खंड 10, पृ. 65-66.)

इस रणनीति का प्रयोजन है उचित अवसर की प्रतीक्षा करना, दुश्मन के मनोबल को क्षीण करना और आगे चलकर आक्रमण करने के लिए अपनी शक्ति का संचय करना.

इस रणनीति का एक आदर्श उदाहरण ब्रेस्त-लितोव्स्क संधि है. इस संधि से पार्टी को सांस लेने का समय मिल गया था. इस संधि के द्वारा पार्टी साम्राज्यवादियों के आपसी झगड़ों से फायदा उठाने में और दुश्मन की फौजों में पस्तहिम्मती फैलाने में

सफल हुई थी. उसी के कारण वह किसानों को अपने साथ बनाए रख सकी और कोल्चाक तथा देनिकिन को हराने के लिए शक्ति बटोरने में सफल हुई.

लेनिन ने उस समय कहा था, "अलग संधि करके हमने अपने को साम्राज्यवादी दुश्मनों के दोनों गुटों से मुक्त कर लिया है. आज की परिस्थिति में इससे अधिक संभव न था. हम उनके पारस्परिक विरोध और युद्ध का लाभ उठा रहे हैं. जबतक वे एक दूसरे से लड़ने में लगे हुए हैं तबतक वे एक साथ हम पर आक्रमण भी नहीं कर सकते. इस प्रकार कुछ काल के लिए हमें अपनी समाजवादी क्रांति को सुदृढ़ बनाने और उसे आगे चढ़ाने का अवसर मिल गया है." (लेनिन, **दुर्भाग्यजनक शांति के प्रश्न के इतिहास के बारे में, ग्रंथावली**, खंड 12, पृ. 198.)

ब्रेस्त-लितोव्स्क संधि के तीन साल बाद लेनिन ने कहा था, "मोटी अक्लवाला आदमी भी आज यह देख सकता है कि ब्रेस्त की संधि द्वारा हमें दुश्मन के साथ जो रियायत करनी पड़ती थी उससे हमारी शक्ति बढ़ी ही है, कम नहीं हुई है. उसने अंतर्राष्ट्रीय साम्राज्यवाद की शक्तियों को ही छिन्न भिन्न कर दिया है." (लेनिन, **नया दौर और नए नकाब में पुरानी गलतियां, ग्रंथावली**, खंड 9, पृ. 247.)

रणनीति के क्षेत्र में सही-सही नेतृत्व करने की ये ही प्रधान शर्तें हैं.

कार्यनीतिक नेतृत्व

कार्यनीति संबंधी नेतृत्व रणनीति संबंधी नेतृत्व का ही एक अंग है और उसके उद्देश्यों और आवश्यकताओं के अधीन है. सर्वहारा वर्ग के संघर्ष और संगठन के विभिन्न रूपों के प्रयोग में निपुणता प्राप्त करना कार्यनीति संबंधी नेतृत्व का एक आवश्यक कार्य है. उसका दूसरा कार्य यह देखना है कि इन रूपों का प्रयोग निश्चित और समुचित ढंग से हो जिससे कि उस समय की परिस्थितियों में मानसिक सफलता मिले और आगे का रास्ता भी साफ होता जाए.

सर्वहारा वर्ग के संघर्ष और संगठन के विभिन्न रूपों के समुचित प्रयोग का क्या अर्थ है? इसका अर्थ है कुछ आवश्यक शर्तों को पूरा करना जिनमें से निम्नलिखित प्रधान हैं :

(1) आंदोलन के उतार या चढ़ाव की अवस्था के किसी निश्चित समय में संघर्ष और संगठन के जो रूप सबसे अधिक अनुकूल हों, अर्थात संघर्ष और संगठन के जो रूप जनता को क्रांति की परिधि में लाने में, देश की करोड़ों जनता की फौज को क्रांति के विभिन्न ठिकानों पर भेजने में, सबसे अधिक सहायक हों उन्हीं रूपों का प्रयोग करना इस संबंध की पहली शर्त है.

पुरानी व्यवस्था को बनाए रखना असंभव है और उसका ध्वंस अनिवार्य है, इस बात को केवल अग्रदल समझ जाए यह काफी नहीं है. आवश्यक यह है कि आम जनता भी उसे समझ ले. हमारा उद्देश्य करोड़ों नर-नारियों को इस अनिवार्यता से परिचित करा देना है जिससे कि वे अग्रदल का समर्थन करने के लिए तैयार हो जाएं.

किंतु जनता में यह समझ उसके अपने अनुभव से ही आ सकती है. अतएव हमारा उद्देश्य यह है कि इस तरह का अनुभव प्राप्त करने में उसकी सहायता की जाए, संघर्ष और संगठन के उन रूपों को आगे बढ़ाया जाए जिनसे जनता को इन बातों का अनुभव हो और अपने अनुभवों से सबक सीखकर वह हमारे क्रांतिकारी नारों की सच्चाई को स्वीकार करने लगे.

अगर पार्टी ने दूमा में भाग लेने का निश्चय न किया होता; अगर पार्टी ने दूमा के अन्दर के कार्य में अपनी सारी शक्ति लगाकर उसे ही अपने संघर्ष का आधार बनाने का निश्चय न किया होता; और अगर अपने इस काम के बदौलत पार्टी ने जनता को उसके अपने अनुभवों के ही द्वारा यह न दिखला दिया होता कि दूमा बेकार थी, वैधानिक जनवादियों के वादे झूठे थे, जारशाही के साथ समझौता होना असंभव था और मजदूर वर्ग के साथ किसानों की मित्रता अनिवार्य थी – अगर पार्टी ने यह सब न किया होता तो अग्रदल मजदूर वर्ग से विलग हो जाता और जनता से उसका संपर्क टूट जाता. दूमा के इस काल में अगर जनता को उपरोक्त अनुभव न हुए होते तो न तो वैधानिक जनवादियों की कलई खुल पाती और न क्रांति में सर्वहारा वर्ग का नेतृत्व ही स्थापित हो पाता.

"ओजोवपंथियों" (बहिष्कारवादियों) की कार्यनीति का पालन करने में खतरा था कि अग्रदल का तमाम जनता से (अर्थात अपनी कोतल शक्ति से) संबंध टूट जाता.

"वामपंथी" कम्युनिस्ट अप्रैल 1917 में ही विद्रोह करने की बात कर रहे थे, किंतु उस समय तक जनता के सामने मेंशेविकों और सामाजिक क्रांतिकारियों का यह भेद नहीं खुल सका था कि वे युद्ध और साम्राज्यवाद के समर्थक थे. इस समय तक जनता अपने अनुभव से यह नहीं सीख सकी थी कि शांति, भूमि और स्वाधीनता के संबंध में मेंशेविकों और सामाजिक क्रांतिकारियों की बातें निरा पाखंड थीं. ऐसी हालत में अगर पार्टी "वामपंथी" कम्युनिस्टों की विद्रोह करने की बात मान लेती तो वह मजदूर वर्ग से विलग हो जाती और किसानों तथा सैनिकों के विशाल जनसमूह पर से मजदूर वर्ग का प्रभाव मिट जाता. उसी तरह केरेंस्की-काल में जनता को अगर उपरोक्त अनुभव न हो जाता तो मेंशेविकों और सामाजिक क्रांतिकारियों को न जनता से पृथक किया जा सकता था और न सर्वहारा अधिनायकत्व की ही स्थापना संभव होती. अतएव निम्नपूंजीवादी दलों की भूलों को जनता को "धीरज के साथ समझाना" और सीखियतों के भीतर खुलकर संघर्ष करना ही उस काल के लिए उपयुक्त कार्यनीति थी.

"वामपंथी" कम्युनिस्टों की कार्यनीति को अपनाने में खतरा यह था कि उससे पार्टी सर्वहारा क्रांति का नेता न रह कर मुट्ठी भर समर्थक क्रांतिकारियों का गिरोह बन जाती और उसका कोई समर्थक न रह जाता.

लेनिन ने कहा है, "अग्रदल अकेला ही विजय नहीं प्राप्त कर सकता. जबतक कि समूचा मजदूर वर्ग और व्यापक जनसमुदाय अग्रदल का समर्थन न करने लगे या उसके प्रति कम से कम मित्रतापूर्ण तटस्थता की भावना न दिखलाने लगे ... तबतक अकेले अग्रदल को ही निर्णयकारी संघर्ष में लगा देना न केवल भूल है बल्कि एक महान अपराध है. समूचे वर्ग में तथा पूंजीवाद द्वारा उत्पीड़ित विशाल श्रमजीवी जनसमुदाय में इस तरह की भावना उत्पन्न करने के लिए केवल प्रचार और आंदोलन ही पर्याप्त नहीं हैं. इसके लिए जनता को उसके अपने ही अनुभवों की पाठशाला में शिक्षा देनी होगी. सभी महान क्रांतियों का यही मूलभूत नियम है जिसे न केवल रूस की बल्कि जर्मनी की घटनाओं ने भी निर्विवाद रूप से प्रमाणित कर दिया है. जहां रूस की जनता असंस्कृत और प्रायः निरक्षर है वहां जर्मनी के लोग पूरी तरह संस्कृत और साक्षर हैं. किंतु अपने कटु अनुभवों से ही दोनों ने यह सबक सीखा है कि दूसरे इंटरनेशनल के पदवीधारी सूरमाओं की सरकारें बिल्कुल निर्बल, निरर्थक, नीच और नपुंसक पूंजीपतियों के तलुए सहलाने में ही अपनी बहादुरी दिखलाती हैं. अपने ही अनुभवों से इन दोनों देशों की जनता को यह भी मालूम हो गया है कि यदि कम्युनिज्म की ओर दृढ़तापूर्वक बढ़ने के लिए सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना नहीं होती; तो घोरतम प्रतिक्रियावादियों (जैसे रूस में कोर्निलोव और जर्मनी में कैप एंड कं.) के अधिनायकत्व का स्थापित होना अवश्यंभावी है. इन दो के सिवा तीसरा कोई रास्ता नहीं है." (लेनिन, "**वामपंथी" कम्युनिज्म : एक बचकाना मर्ज, ग्रंथावली,** खंड 10, पृ. 136.)

(2) किसी निश्चित क्षण में घटना श्रृंखला की उस ऐसी कड़ी की निशानदही करना जो यदि हाथ में आ जाए तो उसके द्वारा पूरी घटना श्रृंखला को ही प्रभावित किया जा सकता है और सामरिक सफलता के अनुकूल परिस्थिति तैयार की जा सकती है. घटना श्रृंखला की इस कड़ी को परखना संघर्ष और संगठन के रूपों के समुचित प्रयोग की दूसरी शर्त है.

इस संबंध में मुख्य बात यह है कि पार्टी के सामने जितने भी प्रश्न हों उनमें से उस तात्कालिक प्रश्न को चुन लिया जाए जिसका उत्तर अन्य सभी प्रश्नों के उत्तर का भी आधार बन सके और जिसका हल निकाल लेने से अन्य सभी तात्कालिक प्रश्नों के हल का भी रास्ता निकल आए.

इस सिद्धांत का महत्व दो उदाहरणों से स्पष्ट किया जा सकता है. उनमें से एक का संबंध तो पार्टी के निर्माण काल से है और दूसरे का नई आर्थिक नीति की वर्तमान परिस्थितियों से.

पार्टी के निर्माण काल में जबतक कि विभिन्न संगठनों और गोष्ठियों को एक सूत्र में नहीं बांधा जा सकता था, जबतक कि इन गोष्ठियों का तैमिखुआपन और उनके दृष्टिकोण की संकीर्णता पार्टी को ऊपर से नीचे तक कमजोर बना रहे थे, जबतक

कि पार्टी के आंतरिक जीवन में संदेहात्मक अस्पष्टता घुसी हुई थी, उस समय तक एक अखिल रूसी गैरकानूनी समाचारपत्र 'इस्क्रा' का प्रकाशन ही पार्टी के सम्मुख उपस्थित कार्यों की श्रृंखला की मुख्य कड़ी थी. क्यों? क्योंकि उस समय की परिस्थितियों में एक गुप्त अखिल रूसी समाचारपत्र के द्वारा ही पार्टी का एक सुसंगत ढांचा खड़ा किया जा सकता था. ऐसा ढांचा जिसके सहारे उस समय की बहुतेरी सभा-समितियों को पार्टी संगठन में लाया जा सकता था, जिसके द्वारा सिद्धांत और कार्यनीति की एकता के लिए भूमि तैयार की जा सकती थी और इस प्रकार वास्तविक पार्टी के निर्माण की नींव डाली जा सकती थी.

इसी तरह युद्ध के बाद जब हमारा देश आर्थिक निर्माण के काल में प्रवेश कर रहा था, उस समय उद्योग धंधे चौपट हो गए थे और शहर में बनी चीजों के प्रभाव से खेती की दशा भी बहुत ही खराब थी. उस समय समाजवादी निर्माण की सफलता के लिए आवश्यक था कि सरकारी उद्योग धंधों और खेती किसानी के बीच संबंध स्थापित किया जाए. उस अवस्था में व्यापार का विकास करना ही घटना श्रृंखला की मुख्य कड़ी, पार्टी का सर्वप्रमुख कार्य निर्धारित हुआ था. इसका क्या कारण था? पहला कारण यह था कि नई आर्थिक नीति की परिस्थितियों के अंतर्गत केवल व्यापार के द्वारा ही उद्योग धंधों और कृषि के बीच संबंध जोड़ा जा सकता था. दूसरे, बिक्री का प्रबंध किए बिना कल-कारखानों में चीजें पैदा करते जाना उद्योग धंधों के लिए घातक साबित होता. तीसरे, व्यापार के विकास द्वारा चीजों की बिक्री बढ़ा करके ही उस समय उद्योग-धंधों का भी विकास किया जा सकता था. चौथे, व्यापार के क्षेत्र में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर लेने और व्यापार को अपने हाथ में ले लेने के बाद ही उद्योग-धंधों का खेती-किसानी के साथ संबंध जोड़ने और दूसरे तात्कालिक कार्यों को सफलतापूर्वक संपादित करने की आशा की जा सकती थी. समाजवादी आर्थिक व्यवस्था के निर्माण के लिए अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करने का यही एक मार्ग था.

लेनिन ने कहा है, "महज क्रांतिकारी होना अथवा समाजवाद या साम्यवाद का साधारण रूप से समर्थक होना पर्याप्त नहीं है. प्रत्येक विशिष्ट क्षण में घटना श्रृंखला की उस विशिष्ट कड़ी को परखने और फिर सारी शक्ति लगाकर उसे अपने हाथ में कर लेने की हममें सामर्थ्य होनी चाहिए, जिससे कि हम इस पूरी घटना श्रृंखला को प्रभावित कर सकें और उसकी अगली कड़ी पर भी अधिकार करने के लिए दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ सकें..."

"... राज्य द्वारा उचित नियंत्रण करते हुए *आंतरिक* व्यापार को बढ़ाना ही आज वह विशिष्ट कड़ी है. 1921-22 में समाजवादी निर्माण के संक्रमणकालीन रूपों की ऐतिहासिक श्रृंखला में व्यापार ही वह 'कड़ी' है जिसे हमको *'अपनी पूरी शक्ति के साथ ग्रहण करना चाहिए'*...." (लेनिन, **अब और समाजवाद की पूर्ण विजय के बाद सोने का महत्व, ग्रंथावली,** खंड 9, पृ. 298-299.)

कार्यनीति के क्षेत्र में सही सही नेतृत्व करने की ये ही प्रधान शर्तें हैं.

सुधारवाद और क्रांतिवाद

क्रांतिकारी कार्यनीति और सुधारवादी कार्यनीति में क्या अंतर है?

कुछ लोग समझते हैं कि लेनिनवाद सुधारों, समझौतों और संधियों के एकदम विरुद्ध है. यह धारणा बिल्कुल गलत है. और लोगों की तरह बोल्शेविक भी यह बात जानते हैं कि एक खास अर्थ में हर छोटी चीज सहायक होती है, और कुछ विशेष परिस्थितियों में आम तौर पर सुधारों की और खास तौर पर संधियों और समझौतों की आवश्यकता एवं उपयोगिता होती है.

लेनिन ने कहा है, "अंतर्राष्ट्रीय पूंजीवाद के उन्मूलन का युद्ध विभिन्न राज्यों के बीच होने वाले साधारण युद्धों से संगुना अधिक कठिन, लंबा और पेचीदा है. ऐसे युद्ध का संचालन करते समय पहले से अपनी रणनीति न निर्धारित करना, दुश्मनों के परस्पर विरोधी स्वार्थों के संघर्षों का (चाहे वे अस्थाई ही क्यों न हों) लाभ न उठाना, जो मित्र बन सकते हैं (चाहे वे अस्थाई, अस्थिर और आगा-पीछा करने वाले ही क्यों न हों, और कुछ खास शर्तों पर ही मित्रता के लिए तैयार क्यों न हुए हों) उनके साथ मित्रता करने के लिए अपनी मांगों को थोड़ा कम करने और उनके साथ समझौता करने से इंकार करना क्या बिल्कुल हास्यास्पद नहीं है? क्या यह लगभग वैसा ही नहीं है जैसा कि किसी दुरूह और अनजान पहाड़ की चोटी की कठिन चढ़ाई आरम्भ करने के पहले ही इस बात की घोषणा कर देना कि हमें टेढ़े-मेढ़े रास्ते से नहीं जाना होगा, कभी पीछे कदम रखने की आवश्यकता न पड़ेगी और न पूर्व निश्चित मार्ग को छोड़कर किसी अन्य रास्ते के आजमाने की ही जरूरत होगी." (लेनिन, **"वामपंथी" कम्युनिज्म : एक बचकाना मर्ज, ग्रंथावली,** खंड 10, पृ. 111.)

अतएव प्रश्न सुधारों, समझौतों और संधियों का नहीं है, प्रश्न उनके उपयोग का है.

एक सुधारवादी के लिए सुधार ही सबकुछ है; क्रांतिकारी कार्य तो आकस्मिक चीज है; अधिक से अधिक वह गप-शप करके समय काट देने या जनता की आंखों में धूल झोंकने का एक साधन है. यही कारण है कि पूंजीवादी शासनकाल में सुधारवादी कार्यनीति के अंतर्गत सुधार केवल उस शासन को दृढ़ करने और क्रांति को विघटित करने के अस्त्र बन जाते हैं.

इसके विपरीत एक क्रांतिकारी के लिए मुख्य चीज सुधार नहीं है बल्कि क्रांतिकारी कार्य है. सुधार उसके लिए क्रांति के उपपरिणाम हैं. यही कारण है कि पूंजीवादी शासनकाल में क्रांतिकारी कार्यनीति के अंतर्गत छोटे-मोटे सुधार भी उक्त शासन को विघटित करने और क्रांति को दृढ़ करने के अस्त्र बन जाते हैं और क्रांतिकारी आंदोलन को आगे बढ़ाने में सहायता देते हैं.

अतएव एक क्रांतिकारी किसी सुधार को इसलिए स्वीकार करता है कि वह

उसकी सहायता से कानूनी और गैरकानूनी कामों को एक साथ चला सकता है और सुधारों की आड़ में पूंजीवादियों को उखाड़ फेंकने के लिए जनता की क्रांतिकारी तैयारियों को आगे बढ़ाने का अपना गैरकानूनी काम और भी मुस्तैदी से चला सकता है.

साम्राज्यवादी शासन की परिस्थितियों के अंतर्गत क्रांतिकारी ढंग से समझौतों और सुधारों के उपयोग करने का *यही* वास्तविक अर्थ है.

इसके विपरीत एक सुधारवादी सुधारों का इसलिए स्वीकार करता है कि उसके बहाने वह सभी गैरकानूनी कामों को तिलांजलि देता है, जनता की क्रांतिकारी तैयारियों के मार्ग में रोड़े अटकाता है और सुधारों के 'वरदान' की छांह में बैठकर विश्राम करता है.

यह है सुधारवादी कार्यनीति का तात्पर्य.

साम्राज्यवाद के युग में सुधारों और समझौतों के संबंध में यही लेनिनवाद का दृष्टिकोण है.

साम्राज्यवाद का ध्वंस हो जाने के बाद सर्वहारा अधिनायकत्व के युग में परिस्थिति कुछ-कुछ बदल जाती है. किसी विशेष परिस्थिति की कुछ विशेष अवस्थाओं में सर्वहारा राज्य के लिए यह आवश्यक हो सकता है कि वह कुछ काल के लिए वर्तमान व्यवस्था के क्रांतिकारी पुनर्निर्माण का मार्ग छोड़कर क्रमशः परिवर्तन का "सुधारवादी मार्ग" अपना ले. **अब और पूर्ण विजय के बाद सोने का महत्व** शौचेक अपने विख्यात लेख में लेनिन ने कहा है कि गैर सर्वहारा वर्गों को विघटित करने, क्रांति को थोड़ा विश्राम देने और नए आक्रमण की अवस्थाएं उत्पन्न करने के लिए तैयारी करने और अपना बल बढ़ाने के उद्देश्य से कभी-कभी सामने से आक्रमण करने के बदले बाजुओं से हमला करने की नीति अपनाना तथा गैर सर्वहारा वर्गों को सुविधाएं देने का सुधारवादी मार्ग पकड़ना आवश्यक हो सकता है. एक अर्थ में यह रास्ता "सुधारवादी" है, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता. किंतु इसमें और ठेठ सुधारवादी मार्ग में जो मौलिक भेद है, उसे भी नहीं भूलना चाहिए. यहां पर सुधार सर्वहारा राज्य की ओर से आता है जिससे उसकी शक्ति मजबूत होती है और उसे आवश्यक मौका मिलता है. इस सुधार का उद्देश्य गैरसर्वहारा वर्ग को विघटित करना होता है न कि क्रांति को.

ऐसी अवस्था में सुधार सुधार नहीं रहता बल्कि उसके प्रतिकूल बन जाता है.

इस नीति का उपयोग करने में सर्वहारा राज्य केवल इसलिए समर्थ होता है कि पूर्ववर्ती काल में क्रांति की लहरें बहुत दूर-दूर तक फैल चुकी होती हैं और क्रांति की परिधि इतनी व्यापक बन चुकी रहती है कि उसके अन्दर थोड़ा-बहुत आगे-पीछे हटने की भी गुंजाइश रहती है; कुछ काल के लिए आक्रमण की कार्यनीति को रोककर पीछे हटने की या बाजुओं पर हमला करने की कार्यनीति अपनाई जा सकती है.

इस प्रकार पूंजीवादी शासनकाल में सुधार जहां क्रांति के उपपरिणाम हुआ करते हैं, वहां अब सर्वहारा अधिनायकत्व के काल में न सिर्फ मजदूर वर्ग की क्रांतिकारी सफलताओं से ही उत्पन्न होते हैं, मजदूर क्रांति के विशद भंडार से ही निकलते हैं.

लेनिन ने कहा है, "केवल मार्क्सवाद में ही क्रांति और सुधारों के परस्पर संबंधों को ठीक-ठीक और स्पष्टतापूर्वक निर्धारित किया गया है. किंतु मार्क्स इस संबंध के एक ही पहलू को देख सके थे अर्थात उन्होंने सर्वहारा वर्ग की प्रथम, एक हद तक स्थाई और दीर्घजीवी विजय (चाहे वह एक ही देश में क्यों न हुई हो) के पहले की अवस्था में ही इस प्रश्न पर विचार किया था. उन परिस्थितियों में इस संबंध की व्याख्या का आधार यह था कि सुधार सर्वहारा के क्रांतिकारी वर्ग संघर्ष के उपपरिणाम हैं.... सर्वहारा वर्ग की विजय के बाद (वह चाहे केवल एक ही देश में क्यों न हुई हो) क्रांति और सुधारों के संबंध में एक नए तत्व का प्रवेश हो गया है. सैद्धांतिक रूप से स्थिति अब भी पहले ही जैसी है, किंतु उसके आकार में एक परिवर्तन हो गया है जिसे मार्क्स नहीं देख सके थे, परंतु उसे मार्क्सवाद के दार्शनिक और राजनीतिक सिद्धांतों की कसौटी पर परखा जा सकता है.... सर्वहारा वर्ग की विजय के बाद (यद्यपि अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र के सुधार आज भी क्रांति के 'उपपरिणाम' ही माने जाएंगे) जिस देश में क्रांति विजयी हुई है उसके लिए वे (अर्थात सुधार -- स्तालिन) उचित और आवश्यक मौके के साधन बन जाते हैं. जब संपूर्ण शक्ति से प्रयत्न कर लेने के बाद भी यह स्पष्ट हो कि अमुक परिवर्तन को क्रांतिकारी ढंग से पूरा करने के लिए अभी आवश्यक शक्ति का अभाव है, तब इस तरह के मौके की आवश्यकता होती है. विजय से जो 'शक्ति का भंडार' प्राप्त होता है, पीछे हटने को बाध्य होने पर भी उस भंडार से भौतिक और नैतिक बल प्राप्त किया जा सकता है और अपने अस्तित्व को बनाए रखा जा सकता है." (लेनिन, **अब और पूर्ण विजय के बाद सोने का महत्व, ग्रंथावली**, खंड 9, पृ. 301-02.)

८. पार्टी

क्रांति के पूर्वकालीन, अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण विकास वाले युग में मजदूर आंदोलन में दूसरे इंटरनेशनल की पार्टियों का ही बोलबाला था और पार्लियामेंट वाले ढंग ही उस समय संघर्ष के प्रधान साधन माने जाते थे. ऐसी अवस्था में पार्टी का न तो वह महत्व था और न हो सकता था जो उसने आगे चलकर खुले क्रांतिकारी संघर्षों के युग में ग्रहण किया. दूसरे इंटरनेशनल पर किए गए आक्षेपों का उत्तर देते हुए काउत्स्की ने कहा है कि उक्त इंटरनेशनल की पार्टियां युद्ध का नहीं बल्कि शांति का अस्त्र थीं. इसीलिए युद्ध के काल में, अर्थात सर्वहारा वर्ग के क्रांतिकारी संघर्ष के काल में, उनकी कोई महत्वपूर्ण भूमिका न हो सकी. काउत्स्की का कहना सही है. किंतु इसका तात्पर्य क्या है? वह यह है कि दूसरे इंटरनेशनल से संबंधित पार्टियां सर्वहारा वर्ग के क्रांतिकारी आंदोलन को चलाने के सर्वथा अयोग्य थीं. वे मजदूर वर्ग की लड़ाकू पार्टियां न थीं जो राजसत्ता पर अधिकार करने के संघर्ष में सर्वहारा वर्ग का नेतृत्व करतीं. बल्कि वे संसदीय चुनावों की और संसदवादी संघर्षों की लड़ाई लड़ने वाली केवल चुनाव समितियां थीं. यही कारण है कि जबतक दूसरे इंटरनेशनल के अवसरवादियों का दौर दौरा था तबतक पार्टी नहीं बल्कि उसका संसदीय गुट ही मजदूर वर्ग का प्रधान राजनीतिक संगठन बना रहा. यह सर्वविदित है कि उन दिनों पार्टी संसदीय गुट का एक पुछल्ला बना दी गई थी और उसी की अधीनता में काम करती थी. कहने की आवश्यकता नहीं कि इन परिस्थितियों में और ऐसी पार्टी की अगुआई में सर्वहारा वर्ग को क्रांति के लिए तैयार करने का प्रश्न भी नहीं उठ सकता था.

किंतु नए युग के आरम्भ के साथ परिस्थिति में भारी परिवर्तन हो गया है. नया युग खुले वर्ग संघर्षों का युग है; यह सर्वहारा वर्ग के क्रांतिकारी संघर्षों का और सर्वहारा क्रांति का युग है; यह एक ऐसा युग है जिसमें साम्राज्यवाद का उच्छेद करने के लिए तथा राजसत्ता पर सर्वहारा वर्ग का आधिपत्य स्थापित करने के लिए सेना को खुलेआम संगठित किया जा रहा है. इस युग में सर्वहारा वर्ग को सर्वथा नए कार्य करने हैं, पार्टी के समस्त कार्यों को उसे नए और क्रांतिकारी ढंग से फिर से संगठित करना है, राजसत्ता पर अधिकार करने के लिए मजदूरों में क्रांतिकारी संघर्ष की भावना का संचार करना है, अपनी कोतल शक्तियों को समेट कर आगे बढ़ना है तथा पड़ोसी देशों के सर्वहारा वर्ग के साथ और उपनिवेशों व पराधीन देशों के स्वाधीनता आंदोलनों के साथ उस सुदृढ़ संबंध स्थापित करना है. संसदवाद की शांतिमय परिस्थितियों में पली हुई पुरानी सामाजिक जनवादी पार्टियों से इन नए कर्तव्यों के पूरा होने की आशा

करना अपने को घोर निराशा और अनिवार्य पराजय के गर्त में डालना था. इन कतारों के सामने आ जाने पर भी यदि सर्वहारा वर्ग उन्हीं पुरानी पार्टियों के नेतृत्व को स्वीकार किए रहता तो वह पूरी तरह निरस्त्र बन जाता. कहने की आवश्यकता नहीं कि सर्वहारा वर्ग इस परिस्थिति में संतुष्ट नहीं हो सकता था.

इसलिए आवश्यकता पड़ी एक नई पार्टी की, एक लड़ने वाली और क्रांतिकारी पार्टी की, एक ऐसी साहसी पार्टी की जो राजसत्ता पर अधिकार करने के संघर्ष में सर्वहारा वर्ग का नेतृत्व कर सके, एक ऐसी अनुभवी पार्टी की जो क्रांतिकारी परिस्थिति की अत्यंत जटिल अवस्थाओं में भी अपना विवेक न खोए, एक ऐसी कार्यकुशल पार्टी की जो क्रांति के जहाज को पानी के अन्दर छिपी हुई चट्टानों से बचाकर उसको अपने लक्ष्य तक पहुंचा दे.

इस तरह की पार्टी के बिना साम्राज्यवाद का अंत करने और सर्वहारा आधिनायकत्व की स्थापना करने की बात सोचना भी व्यर्थ होता.

यह नई पार्टी है लेनिनवाद की पार्टी.

इस नई पार्टी की मुख्य विशेषताएं क्या हैं?

यह पार्टी मजदूर वर्ग का अग्रदल है

पार्टी को सर्वप्रथम मजदूर वर्ग का *अग्रदल* (हिरावल दस्ता) होना चाहिए. उसे मजदूर वर्ग के सर्वोत्तम लोगों को ग्रहण करना चाहिए और उनके अनुभव, उनकी क्रांतिकारी क्षमता और अपने वर्ग की निःस्वार्थ सेवा की उनकी भावना का प्रतिनिधित्व करना चाहिए. किंतु पार्टी वास्तव में अग्रदल तभी बन सकती है जब वह क्रांतिकारी सिद्धांत के अस्त्र से लैस हो और उसे आंदोलन एवं क्रांति के नियमों का ज्ञान हो. ऐसा न होने से वह सर्वहारा आंदोलन का संचालन और सर्वहारा क्रांति का नेतृत्व करने में समर्थ न हो सकेगी. मजदूर वर्ग का आम हिस्सा जो कुछ सोचता और अनुभव करता है, पार्टी का काम अगर उसे ही व्यक्त करने तक सीमित रहा, अगर पार्टी स्वतःस्फूर्त आंदोलन की पूंछ बनकर उसके पीछे-पीछे घिसटती रही, अगर वह उक्त आंदोलन की राजनीतिक उदासीनता और जड़ता को दूर करने में समर्थ न हुई, अगर वह मजदूर वर्ग के क्षणिक हितों के ऊपर न उठ सकी, और अगर वह जनता की चेतना को सर्वहारा के वर्गहितों के धरातल तक पहुंचाने में समर्थ न हुई तो फिर पार्टी एक वास्तविक पार्टी नहीं बन सकती. पार्टी को मजदूर वर्ग के आगे-आगे चलना चाहिए, मजदूर वर्ग से बहुत आगे तक देखना चाहिए और उसका नेतृत्व करना चाहिए. उसे स्वतःस्फूर्त आंदोलन के पीछे-पीछे नहीं चलना चाहिए. "पिछलग्गूपन" का उपदेश देने वाली दूसरे इंटरनेशनल की पार्टियां पूंजीवादी नीति की ही वाहक हैं और सर्वहारा वर्ग को पूंजीपतियों के हाथों की कठपुतली बना देने की कोशिश करती हैं. जो पार्टी सर्वहारा वर्ग के अग्रदल का काम करती हो, जो जनता की चेतना को सर्वहारा

के वर्गहितों के धरातल तक पहुंचाने में समर्थ हो, सिर्फ वही पार्टी सर्वहारा वर्ग को "मजदूर संघवाद" के पथ से उबार कर उसे एक स्वतंत्र राजनीतिक शक्ति में परिणत कर सकती है.

पार्टी मजदूर वर्ग की राजनीतिक नेता है.

मैंने मजदूर वर्ग के संघर्ष की कठिनाइयों का उल्लेख किया है. मैंने संघर्ष की कठिन परिस्थितियों का, रणनीति और कार्यनीति का, कोतल शक्तियों के उपयोग और पैंतरेबाजी का तथा आक्रमण और बचाव संबंधी जटिल प्रश्नों का निर्देश किया है. ये परिस्थितियां यदि युद्ध की परिस्थितियों से अधिक पेचीदा नहीं तो उनसे कम पेचीदा भी नहीं हैं. इन पेचीदगियों के बीच रास्ता ढूंढ निकालने में और करोड़ों मजदूरों का नेतृत्व करने में कौन समर्थ हो सकता है? युद्ध में लगी हुई कोई भी सेना अपने अनुभवी सेनानायकों के बिना काम नहीं चला सकती; अगर वह ऐसा करे तो निश्चय ही उसकी हार होगी. तब क्या यह स्पष्ट नहीं है कि अपने सेनानायकों के बिना सर्वहारा वर्ग के लिए काम चलाना और भी कठिन है? अगर वह ऐसा करे तो निश्चय ही उसकी भी हार होगी. किंतु ये सेनानायक कौन हैं? स्पष्ट है कि सर्वहारा वर्ग की क्रांतिकारी पार्टी ही सेनानायकों का स्थान ले सकती है. क्रांतिकारी पार्टी के बिना मजदूर वर्ग की वही हालत होगी जो सेनानायकों के बिना किसी फौज की होती है.

पार्टी सर्वहारा वर्ग का सेनानायक है.

किंतु पार्टी मजदूर वर्ग का केवल अग्रदल ही नहीं हो सकती, उसे अपने वर्ग का दस्ता, अपने *वर्ग* का एक अंग भी होना चाहिए और जीवन के प्रत्येक सूत्र से अपने वर्ग के साथ संबद्ध होना चाहिए. जबतक वर्गों का विलोप नहीं होता तबतक मजदूर वर्ग और उसके अग्रदल का, पार्टी सदस्यों और साधारण जनता का भी भेद नहीं मिट सकता. यह भेद तबतक बना रहेगा जबतक कि दूसरे वर्गों के लोग मजदूर श्रेणी में आकर मिलते रहेंगे और जबतक कि पूरे वर्ग की चेतना को अग्रदल की चेतना के धरातल तक पहुंचा देना संभव न हो जाएगा. किंतु अगर यह भेद बढ़कर खाई का रूप धारण कर ले, या साधारण जनता से संबंध तोड़कर पार्टी अपने ही खोल के भीतर सिमट कर बैठी रही, तो फिर पार्टी पार्टी न रह जाएगी. क्योंकि यदि उसका संबंध अपने से भिन्न जनता से (साधारण जनता से - संपादक) न रहे, यदि साधारण जनता पार्टी का नेतृत्व न स्वीकार करे, यदि जनता के बीच पार्टी की नैतिक और राजनीतिक साख न हो, तो फिर पार्टी अपने वर्ग का नेतृत्व नहीं कर सकती.

हाल में मजदूरों की पांत में से दो लाख नए सदस्य पार्टी में भर्ती किए गए हैं. इस संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि ये लोग केवल अपने आप ही पार्टी में नहीं सम्मिलित हुए हैं, बल्कि उन्हें गैरपार्टी मजदूर जनता ने भेजा है. पार्टी के लिए नए सदस्य चुनने में मजदूरों ने सक्रिय भाग लिया है. उनके समर्थन के बिना कोई भी नया सदस्य पार्टी में स्वीकृत नहीं किया गया. इससे सिद्ध होता है कि पार्टी में

बाहर का, मजदूरों का विशाल जनसमूह हमारी पार्टी को *अपनी* पार्टी मानता है, उसे अपनी *प्रिय* पार्टी समझता है, उसके प्रगति और संगठन में काफी दिलचस्पी लेता है और उसके हाथों में खुशी खुशी अपना भाग्य सौंप देता है. कहने की आवश्यकता नहीं कि गैरपार्टी जनता के साथ पार्टी का संबंध जोड़ने वाले इन नैतिक सूत्रों के बिना पार्टी अपने वर्ग की निर्णयकारी शक्ति नहीं बन पाती.

पार्टी मजदूर वर्ग का अभिन्न अंग है.

लेनिन ने कहा है, "हम एक वर्ग की पार्टी हैं, इसलिए *लगभग संपूर्ण वर्ग को* (और युद्ध अथवा गृहयुद्ध के समय में संपूर्ण वर्ग को) पार्टी के यथासंभव निकट आकर उसके नेतृत्व में काम करना चाहिए. लेकिन यह समझना कि पूंजीवादी व्यवस्था में संपूर्ण वर्ग अथवा लगभग संपूर्ण वर्ग कभी भी अपने अग्रदल को, सामाजिक जनवादी पार्टी की क्रियाशीलता तथा चेतना के स्तर तक पहुंच सकेगा, पिछलग्गूपन ("खवोस्तिज्म") और मन बहलाने का एक बहाना भर (मानिलावाद अर्थात झूठा आत्मसंतोष) है. किसी भी समझदार सामाजिक जनवादी को इस बात में कभी संदेह नहीं हुआ कि पूंजीवादी व्यवस्था में ट्रेड यूनियन संगठन भी (जो ज्यादा पिछड़े हुए हैं और पिछड़े मजदूरों के ज्यादा नजदीक हैं) संपूर्ण अथवा लगभग संपूर्ण वर्ग को अपने भीतर नहीं ला सकते. यदि हम अग्रदल और उसकी ओर आकर्षित होने वाले जनसमूह का भेद भूल जाते हैं और उस अग्रदल के इस कर्तव्य को भूल जाते हैं कि वह अधिक से अधिक लोगों को *उच्चतम धरातल पर लाने की* चेष्टा करे तो हम अपने को धोखा देते हैं, अपने कार्यों की महत्ता को आंखों से ओझल कर देते हैं और अपने कार्यों को अत्यंत संकुचित बना देते हैं." (लेनिन, **एक कदम आगे, दो कदम पीछे, ग्रंथावली**, खंड 4, पृ. 205-06.)

पार्टी मजदूर वर्ग का संगठित दस्ता है

पार्टी मजदूर वर्ग का केवल *अग्रदल* ही नहीं है. यदि वह अपने वर्ग के संघर्षों का वास्तविक संचालन करना चाहती है तो उसे सर्वहारा का *संगठित* दस्ता भी होना पड़ेगा. पूंजीवाद की परिस्थितियों में पार्टी के कार्य अत्यंत गंभीर और विविध हैं. भीतरी और बाहरी विकास की अत्यंत कठिन परिस्थितियों में उसे सर्वहारा वर्ग के संघर्षों का नेतृत्व करना होगा. जब परिस्थिति आक्रमण के अनुकूल हो तब उसे अपने वर्ग को लेकर चढ़ाई करनी होगी; और जब स्थिति प्रतिकूल हो जाए तो शक्तिशाली दुश्मन के प्रहार से उसे बचाने के लिए अपने वर्ग को पीछे हटा लाना होगा. साथ ही पार्टी के बाहर के करोड़ों असंगठित मजदूरों को संघर्ष का ढंग और अनुशासन सिखलाना होगा और उनमें संगठन और सहनशीलता की भावना उत्पन्न करनी होगी. पार्टी यह सब काम तभी पूरा कर सकती है जब वह स्वयं संगठन और अनुशासन का आदर्श रूप हो, जब वह स्वयं सर्वहारा वर्ग का *संगठित* दस्ता हो. पार्टी में अगर ये गुण न हों तो वह करोड़ों सर्वहारा का पथ प्रदर्शन करने की बात भी नहीं सोच सकती.

पार्टी मजदूर वर्ग का संगठित दस्ता है.

पार्टी नियमावली के पहले अनुच्छेद में ही लेनिन का यह सर्वप्रसिद्ध सिद्धांत विद्यमान है कि पार्टी को एक संगठित इकाई होना चाहिए. उक्त अनुच्छेद में पार्टी को अपने विभिन्न संगठनों का योगफल माना गया है और कहा गया है कि उनमें से किसी संगठन का सदस्य ही पार्टी का सदस्य हो सकता है. मेंशेविकों ने 1903 में ही लेनिन के इस सिद्धांत का विरोध किया था और एक संशोधन द्वारा उसकी जगह यह विधान करना चाहा था कि पार्टी में स्वयं भर्ती होने की "व्यवस्था" हो; और ऐसे प्रत्येक "प्रोफेसर" और "हाईस्कूल के विद्यार्थी" को, प्रत्येक ""हमदर्द" और "हड़ताली" को पार्टी सदस्यता की "पदवी" दी जाए जो किसी भी तरह से पार्टी का समर्थन करता हो. उनका कहना था कि पार्टी के प्रत्येक सदस्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह पार्टी के मातहत किसी न किसी संगठन में काम करता हो या करने के लिए उत्सुक हो. यह प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है कि यदि पार्टी के अन्दर यह अनोखी "व्यवस्था" प्रतिष्ठित हो जाती तो उसमें प्रोफेसरों और हाईस्कूल के विद्यार्थियों की बाढ़ सी आ जाती और "हमदर्दों" के समुद्र में डूबती-उतराती हमारी पार्टी अपने आदर्श से स्खलित होकर एक ढीला-ढाला, असंगठित और श्रृंखलाहीन "ढांचा" बनकर रह जाती. इस हालात में पार्टी और मजदूर वर्ग के बीच का अंतर मिट जाता और असंगठित जनसाधारण को अग्रदल के स्तर तक उठाने का पार्टी का उद्देश्य ही छिन्न भिन्न हो जाता. कहने की आवश्यकता नहीं कि इस तरह की अवसरवादी "व्यवस्था" में हमारी पार्टी क्रांति के दौरान सर्वहारा वर्ग का संगठन केंद्र बनने का कार्य न कर पाती.

इस संबंध में लेनिन ने लिखा था, "मार्तोव के दृष्टिकोण से पार्टी की सीमाएं अनिश्चित हैं क्योंकि उनके अनुसार 'प्रत्येक हड़ताली ... अपने को पार्टी का सदस्य घोषित' कर सकता है. इस लचीलेपन से क्या लाभ हो सकता है? उनका कहना है कि इससे पार्टी के 'नाम' का दूर-दूर तक प्रचार हो जाएगा. किंतु इस व्यवस्था से बहुत भारी हानि होगी. पार्टी और वर्ग का भेद अस्पष्ट हो जाएगा जिससे पार्टी के अन्दर *विघटन* का घुन लग जाएगा." (लेनिन, **ग्रंथावली**, खंड 6, पृ. 211.)

किंतु पार्टी अपने नीचे के संगठनों का केवल *योगफल* ही नहीं है; वह उन संगठनों की एकरस *व्यवस्था* को भी व्यक्त करती है. वह विभिन्न पार्टी संगठनों की नियमित एकता का केंद्र है. उसके साथ वे अभिन्न रूप से बंधे हुए हैं. पार्टी के भीतर नेतृत्व की ऊंची और नीची समितियां हैं. उसके अन्दर अल्पमत को बहुमत के आगे सिर झुकाना पड़ता है और बहुमत के व्यावहारिक निर्णय सभी पार्टी सदस्यों के लिए मान्य होते हैं. इन लक्षणों के अभाव में पार्टी एक एकरस, संगठित और संपूर्ण संस्था

नहीं बन सकती और न वह मजदूर वर्ग के संघर्ष का व्यवस्थित और संगठित रूप से नेतृत्व करने में ही समर्थ हो सकती है.

लेनिन ने कहा है, "पहले हमारी पार्टी एक नियमपूर्वक संगठित दल न होकर विभिन्न गुटों का जोड़ थी; इसलिए इन गुटों में विचार साम्य को छोड़कर और कोई संबंध न था. अब हम एक संगठित पार्टी हैं जिसका अर्थ है कि *अब* हम अनुशासन सूत्र में बंध गए हैं. विचारों की शक्ति अनुशासन में बदल गई है. पार्टी की निम्न संस्थाओं को उच्चतर संस्थाओं के आदेशों को मानना पड़ता है." (वही, पृ. 291.)

अल्पमत का बहुमत से अनुशासित होने तथा एक केंद्र द्वारा पार्टी कार्य का संचालन करने के सिद्धांतों को लेकर ढीले-ढाले और अस्थिर विचार के लोग पार्टी को "नौकरशाहों" का और 'औपचारिकतावादी' संगठन बतलाते हैं. यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है कि इन सिद्धांतों का पालन किए बिना पार्टी न तो एक संगठित संस्था के रूप में और व्यवस्थित ढंग से अपना कार्य कर सकती है और न मजदूर वर्ग के संघर्षों का ही संचालन कर पाती है. संगठन के क्षेत्र में लेनिनवाद का तात्पर्य है इन सिद्धांतों का दृढ़तापूर्वक प्रयोग करना. इन सिद्धांतों के विरोध को लेनिन ने "रूसी नकारवाद" और "राजसी अराजकतावाद" का नाम दिया था. वास्तव में इस तरह का विरोध मात्र उपहास की चीज है और उसे हमें तिरस्कारपूर्वक ठुकरा देना चाहिए.

एक कदम आगे दो कदम पीछे नामक अपनी पुस्तक में लेनिन ने इन ढुलमुल विचारवाले लोगों के संबंध में ये बातें लिखी हैं, "यह राजसी अराजकतावाद रूसी निहिलिस्टों (नकारवादियों) की विशेषता है. पार्टी संगठन को वे भयानक 'फैक्टरी' समझते हैं; उनके विचार से पार्टी के विभिन्न अंगों का तथा अल्पमत का पूरी पार्टी से अनुशासित होना 'दासता' है. कुछ करुणा और कुछ हास्यास्पद स्वर में वे केंद्र की देखरेख में काम के बंटवारे के संबंध में कहते हैं कि उससे लोग मशीन के 'कल-पुर्जे' बन जाते हैं.... पार्टी के संगठन संबंधी नियमों पर वे मुंह बिचकाते हैं और बड़ी घृणा से ... कहते हैं कि बिना नियम के ही काम चल सकता है.

मेरा ख्याल है कि तथाकथित नौकरशाही की बात करके ये लोग जो हायतौबा मचाया करते हैं वह स्पष्टत: केंद्रीय संस्थाओं के सदस्यों के प्रति अपने असंतोष को ढंके रखने का केवल एक बहाना है.... तुम नौकरशाह हो, क्योंकि पार्टी कांग्रेस ने तुम्हें मेरी इच्छाओं के अनुसार नहीं बल्कि उनके विरुद्ध नियुक्त कर दिया है. तुम नियमवादी हो, क्योंकि तुम मेरी सहमति की परवाह न करके कांग्रेस के नियमित निर्णयों को मानते हो! तुम एक जड़ के समान काम करते हो, क्योंकि केंद्रीय संस्थाओं में सम्मिलित होने के संबंध में मेरी निजी इच्छाओं की ओर ध्यान न देकर तुम पार्टी कांग्रेस के 'यांत्रिक' बहुमत के आदेशों को ही प्रामाणिक मानते हो! तुम निरंकुश हो,

क्योंकि तुम पुराने गुटों को (यहां ऐक्सेलराड, मार्तोव, पोत्रेसोव आदि का जिक्र किया गया है. उन्होंने दूसरी कांग्रेस के निर्णयों को मानने से इन्कार कर दिया और लेनिन पर "नौकरशाह" होने का आरोप लगाया) पार्टी संचालन का अधिकार देने के विरुद्ध हो!" (लेनिन, ग्रंथावली, खंड 10, पृ. 280,310.)

पार्टी सर्वहारा के वर्ग संगठन का उच्चतम रूप है

पार्टी मजदूर वर्ग का संगठित दस्ता है, किंतु वह अपने वर्ग का अकेला संगठन नहीं है. सर्वहारा के कितने ही अन्य संगठन भी हैं जिनके बिना वह पूंजीवाद के खिलाफ ठीक से संघर्ष नहीं कर सकती. ये संगठन हैं मजदूर सभाएं, सहयोग समितियां, मिलों और कारखानों के संगठन, संसदीय ग्रुप, पार्टी से बाहर स्त्रियों के संगठन, प्रकाशन संबंधी, सांस्कृतिक और शिक्षा संबंधी संगठन, युवा संघ, खुले क्रांतिकारी संघर्ष के दिनों में लड़नेवाले क्रांतिकारी संगठन, अगर राजसत्ता पर सर्वहारा वर्ग का अधिकार हो तो शासन व्यवस्था से संबंधित संगठनों के रूप में जनप्रतिनिधियों के सोवियत आदि आदि. इनमें से अधिकांश संगठन गैरपार्टी हैं और उनमें से कुछ ही प्रत्यक्ष रूप से पार्टी का अनुसरण करते हैं या उससे संबद्ध हैं. किन्हीं विशेष परिस्थितियों में मजदूर वर्ग को इन सभी संगठनों की आवश्यकता होती है, क्योंकि उनके बिना संघर्ष के विभिन्न क्षेत्रों में सर्वहारा की वर्ग स्थिति को दृढ़ करना संभव नहीं होता और न पूंजीवादी व्यवस्था की जगह समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने का अपना ऐतिहासिक कर्तव्य पूरा करने के लिए सर्वहारा वर्ग में यह क्रांतिकारी क्षमता ही आ सकती है. किंतु इतने विभिन्न प्रकार के संगठनों के रहते हुए एकरस नेतृत्व की स्थापना कैसे हो सकती है? इसकी क्या गारंटी है कि संगठनों की यह अनेकता नेतृत्व में भी विभिन्नता नहीं उत्पन्न कर देगी? कहा जा सकता है कि इनमें से प्रत्येक संगठन अपने विशेष क्षेत्र में ही काम करता है, अत: वह दूसरे के काम में बाधा नहीं बन सकता. यह कहना सही है. लेकिन यह भी तो सही है कि इन सभी संगठनों को एक ही दिशा में काम करना चाहिए क्योंकि उन सबका उद्देश्य एक ही वर्ग की, सर्वहारा वर्ग की सेवा करना है. तब प्रश्न उठता है कि इन विभिन्न संगठनों के कार्य की दिशा, उनकी नीति कौन निर्धारित करेगा? वह केंद्रीय संगठन कहां है जो न केवल अपने आवश्यक अनुभव के कारण एक सामान्य नीति निर्धारित करने की क्षमता रखता है, बल्कि जो अपनी पर्याप्त प्रतिष्ठा के कारण अन्य संगठनों से भी इसपर अमल करा सकता है और इस प्रकार परस्परविरोधी दिशा में काम करने की संभावना को दूर करके नेतृत्व की एकता को स्थापित कर सकता है?

सर्वहारा वर्ग की पार्टी ही यह संगठन है.

पार्टी के पास ये सभी आवश्यक गुण हैं, क्योंकि पहले तो वह मजदूर वर्ग के उन सर्वश्रेष्ठ लोगों को अपने अन्दर एकत्र करती है जिनका सर्वहारा वर्ग के गैरपार्टी

संगठनों से प्रत्यक्ष संबंध है और जो प्राय: उनका नेतृत्व भी करते हैं. दूसरे, मजदूर वर्ग के सर्वश्रेष्ठ लोगों के एकत्रीकरण का केंद्र होने के कारण पार्टी उस वर्ग के नेताओं की शिक्षा की भी सबसे अच्छी जगह है और मजदूरों के हर तरह के संगठन का मार्गदर्शन करने में समर्थ है. तीसरे, मजदूर वर्ग के नेताओं की शिक्षा की सबसे अच्छी जगह होने के कारण और अपने अनुभव तथा प्रतिष्ठा के भी कारण पार्टी ही वह एकमात्र संगठन है जो सर्वहारा संघर्ष के नेतृत्व को केंद्रित कर सकती है और इस प्रकार मजदूर वर्ग के प्रत्येक और अनेक गैरपार्टी संगठनों को अपना सहायक बना सकती है और उन्हें अपने वर्ग के साथ संबंध जोड़नेवाले सूत्र का रूप दे सकती है.

पार्टी सर्वहारा के वर्ग संगठन का उच्चतम रूप है.

इसका यह कदापि तात्पर्य नहीं है कि पार्टी के बाहर के मजदूर संगठनों, मजदूर सभाओं, सहयोग समितियों आदि को नियमत: पार्टी के अधीन बना देना चाहिए. इसका अर्थ सिर्फ यह है कि पार्टी के जो सदस्य इन संगठनों में काम करते हैं – और निस्संदेह वे इन संगठनों पर प्रभाव भी रखते हैं – उन्हें भरसक प्रयत्न करना चाहिए कि अपने कार्य में ये गैरपार्टी संगठन सर्वहारा वर्ग की पार्टी के निकट खिंच आएं और उसके राजनीतिक नेतृत्व को स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करें.

इसीलिए लेनिन का कहना है कि "पार्टी सर्वहारा जनसमूह के वर्ग संगठन का उच्चतम रूप है" और सर्वहारा संगठन के अन्य सभी रूपों पर उसका राजनीतिक नेतृत्व होना चाहिए." (लेनिन, **"वामपंथी" कम्युनिज्म : एक बचकाना मर्ज, ग्रंथावली**, खंड 10, पृ. 91.)

इसीलिए गैरपार्टी संगठन की "स्वाधीनता" और "तटस्थता" का प्रचार करनेवाला सिद्धांत निरा अवसरवादी है और लेनिन के सिद्धांत और व्यवहार के सर्वथा प्रतिकूल है. इस अवसरवादी सिद्धांत को मानकर चलने से संसद के *स्वतंत्र* विचारवाले सदस्य, पार्टी से *अलग थलग रहनेवाले* पत्रकार, मजदूर सभाओं के *कृपमंडूक* नेता तथा सहयोग समितियों के *जड़ और अधकचरे* किसानी जैसे विविध जंतु मजदूर वर्ग में पैदा होते हैं. लेनिनवादी पार्टी को इनकी कोई आवश्यकता नहीं है.

पार्टी सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना और उसके विस्तार का साधन है

पार्टी सर्वहारा के संगठन का उच्चतम रूप है, वह सर्वहारा वर्ग की और उसके विभिन्न संगठनों की प्रधान मार्गदर्शक शक्ति है. किंतु इससे यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता कि पार्टी खुद ही अपना साध्य है और अपने आप में ही परिपूर्ण है. पार्टी न केवल सर्वहारा के वर्ग संगठन का उच्चतम रूप है बल्कि वह उस वर्ग का अस्त्र भी

है. जहां सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की अभी स्थापना नहीं हुई है वहां पार्टी इस अधिनायकत्व को *प्राप्त करने* का साधन है; किंतु जिन देशों में उसकी स्थापना हो चुकी है वहां पार्टी सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की जड़ जमाने और उसके क्षेत्र का *विस्तार करने* का साधन है. सर्वहारा वर्ग के विभिन्न संगठनों के आगे अगर शासन सत्ता पर अधिकार करने का प्रश्न न आता; साम्राज्यवाद की व्यवस्थाओं और युद्ध की घिरती हुई घटाओं ने और बढ़ते हुए संकट ने अगर इस बात की मांग न की होती कि पूंजीपतियों को राजगद्दी से धकेल कर उनके स्थान पर सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना करने के लिए मजदूर वर्ग की सभी शक्तियों को एक स्थान पर केंद्रित किया जाए और आंदोलन के सभी सूत्रों को एक ही जगह संचालित किया जाए; अगर ये सब बातें न हुई होतीं तो न तो पार्टी का महत्व ही इतना अधिक बढ़ पाता और न वह सर्वहारा वर्ग के विभिन्न संगठनों में सर्वप्रमुख स्थान ही ग्रहण कर पाती. सर्वहारा को पार्टी की जरूरत सर्वप्रथम अपने सेनानायक के रूप में है जिससे कि वह राजसत्ता पर सफलतापूर्वक अधिकार जमा सके. यह प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है कि रूसी सर्वहारा वर्ग के पास अगर एक ऐसी पार्टी न होती जो सर्वहारा वर्ग के समस्त जनसंगठनों को अपने इर्द-गिर्द जमा करने में और संघर्ष की प्रगति के समय उसके संपूर्ण आंदोलन का नेतृत्व अपने हाथ में केंद्रित करने में समर्थ न होती तो हमारे देश में सर्वहारा वर्ग का क्रांतिकारी अधिनायकत्व नहीं स्थापित हो पाता.

किंतु सर्वहारा वर्ग को केवल अपने अधिनायकत्व की स्थापना के लिए पार्टी की आवश्यकता नहीं है, उसे पार्टी की इससे भी अधिक आवश्यकता है उस अधिनायकत्व को बनाए रखने के लिए, उसे दृढ़ करने और फैलाने के लिए तथा समाजवाद की पूर्ण विजय हासिल करने के लिए.

लेनिन ने कहा है, "अगर पार्टी के भीतर कठोर और सचमुच फौलादी अनुशासन न होता; अगर मजदूर वर्ग के संपूर्ण जनसमुदाय ने अर्थात उस वर्ग के समस्त चिंतनशील, ईमानदार, आत्मत्यागी और प्रभावशाली व्यक्तियों ने तथा पिछड़े हुए स्तर के लोगों को आकर्षित करने की और उनका नेतृत्व करने की क्षमता रखनेवाले समस्त लोगों ने बोल्शेविकों की खुलकर और भरपूर सहायता न की होती तो ढाई साल तो बहुत अधिक हैं, ढाई महीने भी वे शासन का अधिकार अपने हाथ में न रख पाते. आज लगभग हर आदमी इस बात को स्वीकार करने लगा है." (लेनिन, वही, **ग्रंथावली**, खंड 10, पृ.60.)

तब सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को "बनाए रखने" और "फैलाने" का क्या अर्थ है? इसका अर्थ है करोड़ों सर्वहारा लोगों में अनुशासन और संगठन की भावना उत्पन्न करना; उसका अर्थ है सर्वहारा जनसमूह को निम्नपूंजीवादी लोगों के और निम्नपूंजीवादी आदतों के विषम प्रभाव से बचाने के लिए उसके अन्दर एकता की

भावना और शक्ति उत्पन्न करना; उसका अर्थ है निम्नपूंजीवादी स्तर के लोगों को नए सांचे में ढालने और नए तरह से शिक्षित करने के लिए सर्वहारा वर्ग के संगठनात्मक कार्य को तेजी से आगे बढ़ाना; और उसका अर्थ है सर्वहारा जनसमूह को इतना शक्तिशाली और सामर्थ्यवान बनाने में सहायता देना कि वह समाजवादी उत्पादन के संगठन की अनुकूल अवस्थाएं उत्पन्न करने के योग्य बन सके और वर्गों का अंत करने में सफल हो. किंतु जबतक हमारे पास ऐसी पार्टी न हो जिसे एकता और अनुशासन का बल प्राप्त है तबतक यह सब कार्य संपन्न कर पाना असंभव है.

लेनिन ने लिखा है, "सर्वहारा आधिपत्य एक अनवरत संघर्ष है जो पुराने समाज की शक्तियों और परंपराओं के विरुद्ध शांतिपूर्ण और अशांतिपूर्ण, हिंसात्मक और अहिंसात्मक तथा सैनिक और आर्थिक ढंग से एवं शिक्षा और शासन की व्यवस्थाओं द्वारा चलाया जाता है. लाखों और करोड़ों मनुष्यों की पुरानी आदतों की शक्ति एक भयंकर चीज है. अतएव संघर्ष की आंच में तपकर इस्पात जैसी दृढ़ बनी हुई एक पार्टी के बिना, अपने वर्ग के समस्त ईमानदार लोगों का विश्वास प्राप्त पार्टी के बिना, जनता की प्रवृत्तियों को परखने और उन्हें बदलने में समर्थ पार्टी के बिना इस तरह के संघर्ष का सफलतापूर्वक संचालन करना असंभव है." (लेनिन, वही, **ग्रंथावली**, खंड 10, पृ. 84.)

अपना अधिनायकत्व स्थापित करने और उसे बनाए रखने के लिए सर्वहारा वर्ग को पार्टी की आवश्यकता है. पार्टी सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को स्थापित करने का साधन है.

इसी से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि जब वर्गभेद मिट जाएगा और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का लोप हो जाएगा, तब पार्टी का भी लोप हो जाएगा.

पार्टी संकल्प की एकता की प्रतीक है; अतएव वह हर तरह की गुटबंदी की दुश्मन है

एक ऐसी पार्टी के बिना जिसे एकता और फौलादी अनुशासन का बल प्राप्त हो सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित करना या उसे बनाए रखना असंभव है. किंतु पार्टी के भीतर जबतक संकल्प की एकता न हो, तबतक फौलादी अनुशासन की कल्पना तक नहीं की जा सकती. किंतु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि पार्टी में मतों के संघर्ष के लिए कोई स्थान नहीं है. न फौलादी अनुशासन का अर्थ "अंधा" अनुशासन – आंख मूंद कर हुक्म बजाना – ही है. बात ठीक इसके विपरीत है. फौलादी अनुशासन की स्थापना के लिए आवश्यक है कि पार्टी का अनुशासन आंख मूंद कर नहीं बल्कि सोच-समझ कर और स्वेच्छापूर्वक माना जाए, क्योंकि सोच

समझ कर माना हुआ अनुशासन ही सचमुच फौलादी अनुशासन हो सकता है. किंतु संपूर्ण वादविवाद के बाद जब कोई निश्चय कर लिया जाता है और मतामत का संघर्ष बंद कर दिया जाता है, तब फिर पार्टी के तमाम सदस्यों में संकल्प और व्यवहार की एकता का होना नितांत आवश्यक हो जाता है. इसके बिना न तो पार्टी की एकता की कल्पना की जा सकती है और न फौलादी अनुशासन की ही.

लेनिन ने कहा है, "तीव्र गृहयुद्ध के इस युग में कम्युनिस्ट पार्टी अपना कर्तव्य पूरा करने में तभी समर्थ हो सकती है जब उसका संगठन पूरी तरह केंद्रित हो, उसके भीतर सैनिक अनुशासन के समान कठोर फौलादी अनुशासन हो, उसका केंद्रीय संगठन शक्तिशाली और प्रभावपूर्ण हो, उसे काफी विस्तृत अधिकार प्राप्त हों और पार्टी के समस्त सदस्यों का उसपर विश्वास हो." (लेनिन, **कम्युनिस्ट इंटरनेशनल में प्रवेश की शर्तें**, **ग्रंथावली**, खंड 10, पृ. 204.)

सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना के पूर्व के संघर्ष काल में पार्टी के भीतर ऐसे ही कठोर अनुशासन की आवश्यकता है.

सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना के बाद वाले युग में अनुशासन की और भी अधिक आवश्यकता है, और भी कड़े अनुशासन की आवश्यकता है.

लेनिन ने कहा है, "जो व्यक्ति सर्वहारा पार्टी के फौलादी अनुशासन को (विशेषकर सर्वहारा अधिनायकत्व के काल में) किसी भी मात्रा में घटाने की कोशिश करता है, वह वास्तव में सर्वहारा वर्ग के विरुद्ध पूंजीपतियों को सहायता देता है." (लेनिन, **"वामपंथी" कम्युनिज्म : एक बचकाना मर्ज**, ग्रंथावली, खंड 10, पृ. 84.)

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पार्टी के अन्दर गुटों का होना उसकी एकता अथवा उसके कठोर अनुशासन की भावना से मेल नहीं खाता. कहने की आवश्यकता नहीं है कि पार्टी के भीतर गुटबंदी होने से पार्टी में एक साथ कई केंद्र हो जाते हैं, पार्टी के एक साझा केंद्र का लोप हो जाता है और फलतः अनुशासन छिन्न-भिन्न होकर ढीला पड़ जाता है, जिससे सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व निर्बल और अस्त-व्यस्त होने लगता है. सर्वहारा अधिनायकत्व के विरुद्ध जेहाद करनेवाली दूसरे इंटरनेशनल की पार्टियां गुटबंदी को स्वाधीनता देने की उदारता दिखला सकती हैं, क्योंकि उन्हें फौलादी अनुशासन जैसी किसी चीज की आवश्यकता नहीं है और वे सत्ता पर अधिकार करने की लड़ाई में सर्वहारा वर्ग का नेतृत्व करने की कोई विशेष इच्छा नहीं रखतीं. किंतु सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की जड़ जमाने और उसे मजबूत करने के उद्देश्य से काम करनेवाली कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की पार्टियों में गुटबंदी को स्वाधीनता जैसी "उदारता" दिखाने के लिए कोई स्थान नहीं है.

पार्टी संकल्प की एकता का प्रतीक है, अतएव उसके अन्दर गुटबाजी के लिए कोई गुंजाइश नहीं है और न उसमें नेतृत्व के विभिन्न केंद्र ही हो सकते हैं.

पार्टी की दसवीं कांग्रेस के **पार्टी में एकता के बारे में** नामक विशेष प्रस्ताव

में लेनिन ने चेतावनी दी है :

"पार्टी की एकता को ध्यान में रखते हुए गुटबाजी के खतरे से सावधान रहना चाहिए और सर्वहारा वर्ग के अग्रदल में संकल्प की पूर्णतम एकता स्थापित करनी चाहिए. यही सर्वहारा अधिनायकत्व की सफलता की शर्त है." (लेनिन, **ग्रंथावली**, खंड 9, पृ. 132.)

इसलिए लेनिन ने मांग की थी कि "गुटबाजी पार्टी से दूर कर दी जाए" और "तरह तरह का कार्यक्रम लेकर बने हुए तमाम गुट तुरंत तोड़ दिए जाएं." और अगर वे ऐसा मानने के लिए न तैयार हों तो उन्हें "बिना किसी शर्त के पार्टी से तुरंत निकाल बाहर किया जाए" (वही, पृ. 133-34.)

अवसरवादी लोगों को निकाल देने से पार्टी मजबूत होती है

पार्टी के अन्दर अवसरवादी लोगों का होना ही गुटबंदी की जड़ है. सर्वहारा वर्ग कोई अलग-थलग वर्ग नहीं है. पूंजीवाद के विकास के साथ कितने ही किसान, निम्नपूंजीवादी और बुद्धिजीवी लोग अपने विभिन्न वर्गों से टूट-टूट कर सर्वहारा श्रेणी में गिरते और उसमें शामिल होते रहते हैं. साथ ही सर्वहारा वर्ग के ऊपरी स्तर के लोगों का, प्रधानतया मजदूर सदस्यों का पतन होता रहता है. पूंजीवादी शोषक उपनिवेशों को अपनी भारी लूट में से जब तब दो चार टुकड़े फेंक दिया करते हैं, और ये लोग अपने मालिकों के इशारे पर नाचने लगते हैं. इनके संबंध में लेनिन ने लिखा है, "पूंजीवादी उतरन पहनकर मटकते फिरनेवाले मजदूरों का यह स्तर, 'मजदूर रईसों' का यह दल, अपने रहन-सहन और दृष्टिकोण में पूंजीपतियों की नकल करता है. ये ही लोग दूसरे इंटरनेशनल की पार्टियों के प्रधान स्तंभ थे. ये ही लोग आज हमारे समय में, *पूंजीपतियों के सामाजिक* (फौजी नहीं) *स्तंभ बने हुए हैं. मजदूर आंदोलन के भीतर* ये लोग *पूंजीपतियों* के पक्के *दलाल* और पूंजीपति वर्ग के चाकर हैं. ये ही सब तरह के सुधारवाद और राष्ट्रीय अहंकार के स्रोत हैं." (लेनिन, **साम्राज्यवाद पूंजीवाद की चरम अवस्था** के फ्रेंच और जर्मन संस्करणों की भूमिका, **ग्रंथावली**, खंड 5,पृ.12)

इन निम्नपूंजीवादी गुटों के लोग किसी न किसी तरह से पार्टी में घुस आते हैं और उसमें हिचकिचाहट और अवसरवादिता, पस्तहिम्मती और अनिश्चयता की भावना फैलाते हैं. ये ही लोग पार्टी के भीतर गुटबंदी और विशृंखलता के, विघटन और विच्छिन्नता के जनक हैं. इस तरह के "मित्रों" को साथ लेकर साम्राज्यवाद से लोहा लेने का अर्थ है आगे और पीछे दोनों ओर से खतरा मोल लेना. अतएव इन लोगों के विरुद्ध निर्मम संघर्ष करके उन्हें पार्टी से निकाल बाहर करना साम्राज्यवाद से सफलतापूर्वक लड़ने की पहली शर्त है.

कुछ लोग कहते है कि इन अवसरवादी गुटों के साथ पार्टी के भीतर ही सैद्धांतिक संघर्ष करके उन्हें "मात कर देना" चाहिए अथवा एक ही पार्टी के अंदर इन तत्वों

से "पार पा लेना" चाहिए. किंतु यह एक दिवालिया और खतरनाक सिद्धांत है जिसे मान लेने से पार्टी एक लकवा मारे व्यक्ति की तरह सदा के लिए पंगु होकर अवसरवादियों के हाथ का खिलौना बन जाएगी. यह एक ऐसा सिद्धांत है जिसे मान लेने से पार्टी सर्वहारा वर्ग की क्रांतिकारी पार्टी नहीं रह जाएगी और मजदूर वर्ग अपने इस महान हथियार को खोकर साम्राज्यवाद के सामने निहत्था हो जाएगा. अगर हमारी पार्टी में मार्तोव और दान, पोत्रेसोव और ऐक्सेलराद जैसे लोग बने रहते तो न तो वह क्रांति के राजपथ पर अग्रसर होकर राजसत्ता पर ही अधिकार कर पाती और न सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का संगठन करके गृहयुद्ध में ही विजयी होती. अपने भीतर एकता और अनुपम सहकारिता की भावना उत्पन्न करने में हमारी पार्टी मुख्यत: इसलिए सफल हुई है कि इसने ठीक समय पर अपने भीतर की अवसरवादी गंदगी को धो डाला और मेंशेविकों और विलोपवादियों से अपना पिंड छुड़ा लिया. अवसरवादियों और सुधारवादियों, सामाजिक साम्राज्यवादियों और सामाजिक देशाहंकारियों, सामाजिक देशभक्तों और सामाजिक शांतिवादियों जैसे लोगों को अपने भीतर से निकाल देने से पार्टी की शक्ति बढ़ती है.

अवसरवादी अंगों को काट फेंकने से पार्टी स्वस्थ और सुगठित बन जाती है.

लेनिन ने लिखा है, "पार्टी के भीतर सुधारवादियों और मेंशेविकों के रहते हुए सर्वहारा क्रांति में *न तो* विजय प्राप्त हो सकती है और *न* इसे टिकाऊ ही बनाया जा सकता है. सैद्धांतिक रूप में तो यह बात स्पष्ट ही है; रूस और हंगरी के अनुभवों ने उसे और भी अच्छी तरह प्रमाणित कर दिया है.... रूस में *कई बार* ऐसी विराट परिस्थिति उत्पन्न हुई है कि यदि उस समय हमारी पार्टी में मेंशेविक तथा सुधारवादी और निम्नपूंजीवादी विचारों के लोग मौजूद होते तो सोवियत राज्य का अस्तित्व *निश्चय ही* मिट जाता.... इटली में, जैसा कि सब जानते हैं, राजसत्ता पर अधिकार करने के लिए सर्वहारा वर्ग और पूंजीपतियों के बीच निर्णायक संघर्ष छिड़नेवाला है. ऐसे समय में भी मेंशेविकों, सुधारवादियों और तुरातीपंथियों को पार्टी से निकाल बाहर करना नितांत आवश्यक है. साथ ही अच्छे अच्छे कम्युनिस्टों के बारे में किसी तरह की ढील-ढाल का संदेह हो और मालूम होता हो कि उनका झुकाव सुधारवादियों की ओर है तो उन्हें सभी उत्तरदायित्वपूर्ण जगहों से हटा लेना लाभप्रद होगा. क्रांति के आरंभिक काल में जब घोर संघर्ष चल रहा हो, उस समय पार्टी के भीतर हल्की सी हिचकिचाहट से भी *सबकुछ चौपट हो जा सकता है*, क्रांति धूल में मिल जा सकती है और शासन का अधिकार सर्वहारा वर्ग के हाथ से निकल जा सकता है क्योंकि अभी तक सर्वहारा वर्ग का शासन संगठित नहीं हुआ रहता और उसपर पूंजीपतियों के शक्तिशाली प्रहार होते रहते हैं. ऐसे समय में आगापीछा करनेवाले नेताओं के हट जाने से पार्टी की, मजदूर आंदोलन की और क्रांति की शक्ति कम नहीं होती बल्कि और भी बढ़ जाती है." (लेनिन, **इतालवी समाजवादी पार्टी के अंदर जारी संघर्ष के बारे में ग्रंथावली**, खंड 10, पृ. 256-58)

९. कार्यशैली

मैं यहां साहित्यिक शैली का उल्लेख नहीं कर रहा हूं. मेरा तात्पर्य कार्यशैली से है - काम करने के उस ढंग से है जो लेनिनवादी व्यवहार की अपनी विशेषता है और जिससे एक खास तरह का लेनिनवादी कार्यकर्ता उत्पन्न होता है. लेनिनवाद सिद्धांत और व्यवहार की पाठशाला है जिसमें पार्टी और राज्य के एक विशेष तरह के कार्यकर्ता तैयार होते हैं जिनकी एक विशेष तरह की कार्यशैली – लेनिनवादी शैली होती है. इस शैली के विशिष्ट लक्षण क्या हैं? इसकी विशेषताएं क्या हैं?

ये लक्षण दो तरह के हैं :

i. रूसी क्रांतिकारी उत्साह.

ii. अमेरिकी कार्यकुशलता.

पार्टी और राज्य के कार्य में इन दोनों लक्षणों के संयोग से बनी शैली लेनिनवादी शैली कहलाती है.

अकर्मण्यता, जड़ता, अनुदारता तथा मानसिक गतिशून्यता के विरुद्ध और पुरातन परंपराओं की दासता के विरुद्ध रूसी क्रांतिकारी उत्साह रामबाण के समान है. वह एक जीवनदायिनी शक्ति है जो विचार को उत्तेजित करती है, कार्य को गति देती है और पुराने बंधनों को तोड़कर आगे का रास्ता खोलती है. उसके बिना कोई प्रगति संभव नहीं है.

किंतु यदि उसका संबंध अमेरिकी कार्यकुशलता के साथ नहीं जोड़ा जाता तो रूसी क्रांतिकारी उत्साह भी व्यवहार में विकृत होकर खोखले "क्रांतिकारी" मानसिलोबवाद का (अर्थात मिथ्या आत्मसंतोष का) रूप धारण कर सकता है. इस विकृति के दर्जनों उदाहरण दिए जा सकते हैं. कुछ लोगों का विश्वास है कि फरमानों द्वारा हर चीज की व्यवस्था हो सकती है. हर तरह का सुधार किया जा सकता है. इस तरह के विश्वासवाले लोग जिस तरह हर बात के लिए चटपट "क्रांतिकारी" हल निकाल लेते हैं और "क्रांतिकारी" योजनाओं के अंडे दिया करते हैं, उसे कौन नहीं जानता? एक रूसी लेखक इलिया एहरेनबुर्ग ने अपनी कहानी **द पर्कोमान** (अर्थात **पक्का कम्युनिस्ट मानव**) में इस तरह के एक "बोल्शेविक" का चित्रण किया है. उक्त "बोल्शेविक" ने एक पूर्णतः आदर्श व्यक्ति की रचना का सूत्र खोज निकालने का निश्चय किया.... और इसी "कार्य" में खो गया. इस कहानी में कुछ अतिशयोक्ति है, तो भी वह उपरोक्त बीमारी का एक सही चित्र उपस्थित करती है. लेकिन मैं समझता हूं कि इस रोग का उपहास जिस निर्ममता से लेनिन ने किया है वैसा और किसी ने नहीं किया है. इस चीज की चटपट योजना बना लेने और फतवों द्वारा हर

काम की व्यवस्था कर लेने की इस धारणा का लेनिन ने "कम्युनिस्ट दंभ" कहा है.

लेनिन ने लिखा है, "कम्युनिस्ट दंभ एक ऐसे आदमी का लक्षण है जो समझता है कि वह केवल फतवे निकाल कर सब प्रश्नों को हल कर सकता है." (लेनिन, **नई आर्थिक नीति और राजनीतिक शिक्षा विभाग के कार्यभार, ग्रंथावली**, खंड 9, पृ. 273.)

लेनिन अक्सर सीधे दैनिक काम और खोखले "क्रांतिकारी" शब्दाडंबर का भेद बताया करते थे. वह बराबर इस काम पर जोर देते थे कि यह तथाकथित "क्रांतिकारी" योजनाबाजी लेनिनवाद के सिद्धांतों और भावना के सर्वथा विरुद्ध है.

उन्होंने लिखा है, "... लच्छेदार भाषा का प्रयोग कम करके अपने दैनिक कार्य की मात्रा बढ़ाओ."

"... राजनीतिक आतिशबाजी का प्रदर्शन कम करो, कम्युनिस्ट निर्माण के साधारण किंतु महत्वपूर्ण प्रश्नों की ओर अधिक ध्यान दो." (लेनिन, **एक महान शुरूआत ग्रंथावली**, खंड 9, पृ. 430-440.)

अमेरिकी कार्यकुशलता "क्रांतिकारी" मानिलोबवाद और हास्यास्पद योजनाबाजी की शत्रु है. यह कार्यकुशलता वह अजेय शक्ति है जो न बाधाओं को जानती है और न उन्हें स्वीकार करती है. अपने उद्यम और अध्यवसाय के बल से कार्यकुशल व्यक्ति सभी बाधाओं को दूर कर देता है और जबतक कार्य समाप्त नहीं हो जाता तबतक उसे करता जाता है चाहे वह काम कितना ही छोटा क्यों न हो. इस प्रकार की कार्यकुशलता (अमेरिकी दक्षता) के बिना कोई भी रचनात्मक कार्य पूरा नहीं किया जा सकता.

किंतु उसका (अमेरिकी दक्षता का) संयोग रूसी क्रांतिकारी उत्साह के साथ न हो तो अमेरिकी कार्यकुशलता के विकृत होकर संकुचित और सिद्धांतहीन व्यावसायिकता में बदल जाने की पूरी संभावना है. संकुचित व्यावहारिकता और सिद्धांतहीन व्यावसायिकता के कारण कभी-कभी कुछ "बोल्शेविकों" ने क्रांतिकारी कार्य को त्याग दिया है. उनके इस रोग की बात किसने नहीं सुनी है? बी. पिलनियाक की **बंजर वर्ष** नामक कहानी में हमें इस विचित्र रोग का परिचय मिलता है. उसमें कुछ ऐसे "बोल्शेविकों" का चित्रण किया गया है जिनकी इच्छाशक्ति और व्यावहारिक संकल्प काफी दृढ़ हैं और जो काफी "जोरशोर" से "काम" करते हैं. लेकिन वे कुछ समझ नहीं पाते, वे यह नहीं जानते कि वे "क्या कर रहे हैं" और इस कारण क्रांतिकारी पथ से भटक जाते हैं. इस संकुचित व्यावसायिकता का उपहास करने में लेनिन से अधिक निर्ममता और किसी ने नहीं दिखाई है. उन्होंने इसे "कूपमंडूक व्यावहारिकता" और "नासमझ बनियापन" बतलाया है. लेनिन ने महत्वपूर्ण क्रांतिकारी कार्य करने की और दैनिक कार्यक्रम के संबंध में क्रांतिकारी संबंध बनाए रखने की आवश्यकता में और इस संकुचित दृष्टिकोण में भेद बतलाया है. उन्होंने इस बात पर

जोर दिया है कि सिद्धांतहीन व्यावसायिकता लेनिनवाद के सिद्धांतों के उतना ही विरुद्ध है जितना कि तथाकथित "क्रांतिकारी" योजनावाद.

पार्टी और राज्य के कार्यक्षेत्र में रूसी क्रांतिकारी उत्साह और अमेरिकी कार्यकुशलता के इस सम्मिश्रण का नाम है लेनिनवाद.

इन्हीं दो गुणों के संयोग से निपुण लेनिनवादी कार्यकर्ता उत्पन्न होता है और लेनिनवादी कार्यशैली का निर्माण होता है.

[*प्रावदा* के 1924 के संख्या 96(26 अप्रैल), 97 (30 अप्रैल), 103 (9 मई), 105 (11 मई), 107 (14 मई), 108 (15 मई) और 111 (18 मई) में प्रकाशित]